राष्ट्रवाद और हिन्दी समुदाय

प्रसन्न कुमार चौधरी

राष्ट्र, राष्ट्र-राज्य और राष्ट्रवाद

सन् 1648 । तीससाला (1618-1648) यूरोपीय युद्ध का अन्त **वेस्टफेलिया की सन्धि** में हुआ । इस युद्ध में एक ओर कैथोलिक झण्डे तले पोप की अगुवाई में स्पेन और ऑस्ट्रिया का हैब्सबर्ग राजघराना था और उसके साथ कैथोलिक जर्मन राजकुंवर थे, तो दूसरी ओर जर्मन प्रोटेस्टेण्ट राज्यों के साथ बोहेमिया, डेनमार्क, स्वीडन और नीदरलैण्ड्स के प्रोटेस्टेण्ट राज्य थे । धर्म-सुधार आन्दोलन की पृष्ठभूमि में चले इस युद्ध का हृदयस्थल जर्मन क्षेत्र था । इस युद्ध की खास बात यह थी कि कैथोलिक फ्रांस प्रोटेस्टेण्ट राज्यों के पक्ष में उतर आया था । फ्रांस के इस कदम के पीछे हैब्सबर्ग घराने के साथ उसकी प्रतिद्वंद्विता थी । वेस्टफेलिया की सन्धि ने जर्मनी के बंटवारे पर मुहर लगा दी थी । बाद में, नेपोलियन के पतन के बाद संपन्न **वियेना कांग्रेस** (1815) ने भी जर्मनी के बंटवारे को जारी रखा ।

बहरहाल, इसी **वेस्टफेलियन शान्ति** से यूरोप में **राष्ट्र-राज्यों वाली व्यवस्था** अस्तित्व में आई । लेकिन इस 'शान्ति' को ऑरवेलियन डबलस्पीक के रूप में लिया जाना चाहिए । वेस्टफेलियन व्यवस्था ने राष्ट्र-राज्यों के बीच वर्चस्व के लिए, यूरोप में और उपनिवेशों में, युद्धों के एक नये सिलसिले का आग़ाज़ किया, जो अनेक छोटे-छोटे युद्धों, नेपोलियन के अभियानों, फ्रैंको-प्रशियन युद्ध (1870-71) से होते हुए बीसवीं सदी में दो विश्व-युद्धों तक, और उसके बाद भी, जारी रहा ।

राष्ट्र-राज्यों के रूप में यूरोप के उदीयमान मध्य वर्ग (बुर्जुआ वर्ग) को आखिरकार सम्प्रभुता का वह माध्यम मिल गया था जिसके लिए वे लम्बे समय से संघर्ष करते आ रहे थे । मजहबी सोपानों पर आधारित सम्प्रभुता का सामंती स्वरूप उनके विकास में बाधक था और उससे छुटकारा पाने के क्रम में सम्प्रभुता के कुछ संक्रमणकालीन रूप भी सामने आये – खासकर निरंकुश राजतंत्रों के शासन-काल में ।

राष्ट्र-राज्यों के विकास की इसी प्रक्रिया में **राष्ट्रवाद की विचारधारा** अस्तित्व में आई । राष्ट्र को एक ऐसे समुदाय के रूप में परिभाषित किया गया जिसकी समान भाषा हो, एक खास भौगोलिक क्षेत्र में जिसके लोगों के बीच रक्त-सम्बन्धों का एक जैविक नैरंतर्य हो, जीविकोपार्जन की प्रक्रिया में एक समान ऐतिहासिक अनुभव हो, और इन सबके परिणामस्वरूप, जिनका एक समान मनोवैज्ञानिक गठन हो । पंथ पर आधारित सम्प्रभुता का स्थान अब राष्ट्रीय सम्प्रभुता ने ले लिया ।

राष्ट्रवाद ने यूरोप के नये पूंजीपति वर्ग को अपना घरेलू (राष्ट्रीय) बाजार संगठित और संरक्षित करने का, तथा 'राष्ट्रीय हित' के लिए दूसरे देशों तथा उपनिवेशों पर अपना आर्थिक-राजनीतिक-सांस्कृतिक वर्चस्व कायम करने का एक सशक्त वैचारिक आधार प्रदान कर दिया । राष्ट्र-राज्य के साथ-साथ एक **अमूर्त राष्ट्र-जनता** का भी निर्माण किया गया – एक ऐसी राष्ट्र-जनता जिसका हित और सोच समान है और जो राष्ट्र के हित के लिए, उसके गौरव और सम्मान के लिए अपना सब कुछ न्योछावर करने को तैयार रहती है । इस तरह, राष्ट्र के अन्दरूनी भेदों, टकरावों और संघर्षों को पृष्ठभूमि में धकेल कर इस वर्ग ने अपने वर्चस्व के हित में, देश और विदेश में, समय-समय पर अमूर्त राष्ट्र-जनता की मूर्त राष्ट्र-जनता के रूप में गोलबन्दी की । नवजागरण, धर्म-सुधार और ज्ञानोदय के साथ-साथ राष्ट्र-राज्य भी आधुनिक युग का प्रतीक बन गया ।

कुल मिलाकर, सामंतवाद के पराभव के साथ यूरोप में जिस नये, **आधुनिक युग** की शुरुआत हुई, उसकी शिनाख़्त निम्नलिखित परिघटनाओं से की जाती है – नवजागरण, धर्म-सुधार, ज्ञानोदय, न्यूटोनियन (वैज्ञानिक) क्रान्ति, मैन्युफैक्चरिंग और आगे चलकर औद्योगिक क्रान्ति, विश्व-व्यापार और उपनिवेशीकरण, बड़े पैमाने पर शहरीकरण और नागर-जीवन, राष्ट्र-राज्य, सेक्यूलर विचार-प्रणालियों का उत्थान, हिंसात्मक जन-क्रान्ति, गणतंत्रवाद, गद्य लेखन और, खासकर, उपन्यास-विधा का विकास ।

राष्ट्रवाद और यूरोप

राष्ट्रवाद की विचारधारा ने सर्वप्रथम यूरोप में ही वर्चस्व के लिए युद्धों के एक नये युग का सूत्रपात कर दिया । यूरोप के कमजोर राष्ट्रों को वर्चस्वशाली राष्ट्रों की बंदरबांट का शिकार बनना पड़ा ।

यूरोप का एक भी देश ऐसा न था, जहाँ दूसरी राष्ट्रीयता के लोग न बसे थे । उनमें से अधिकांश तो सैकड़ों वर्षों के इतिहास में उन राष्ट्रों के साथ इतना घुलमिल गये थे कि अपने मूल राष्ट्र-राज्यों में वापस जाने की बात वे सोच भी नहीं सकते थे । इतिहास में विभिन्न कारणों से आबादी का स्थानान्तरण होता रहा है – खासकर जीविकोपार्जन के लिए अधिक उपयुक्त स्थल की तलाश में, या फिर किसी शासकीय दमन से बचने के निमित्त । फलतः, राष्ट्र-राज्यों की सीमाएँ प्रायः संबंधित राष्ट्रीयताओं की 'स्वाभाविक' सीमाओं से मेल नहीं खातीं । जर्मन और फ्रेंच भाषी अच्छी-खासी आबादी जर्मनी और फ्रांस के बाहर बसी थी । फ्रांस के ब्रितानी में केल्ट आबादी निवास करती थी । ब्रिटेन में हाइलैंड गेल्स और वेल्स आबादी थी जो निस्संदेह इंगलिश राष्ट्रीयता से भिन्न थी । स्विट्जरलैंड में अच्छी-खासी संख्या में जर्मन और फ्रेंच रहते थे । पोलैंड में मुख्य पोल आबादी के साथ उत्तरी (बाल्टिक) प्रदेशों में लिथुआनियन बसते थे, तो पूरब में 'व्हाइट रसियन्स' और दक्षिण में 'लिटिल रसियन्स' निवास करते थे ।

उपर्युक्त तथ्यों से यह सहज ही अंदाजा लगाया जा सकता है कि राष्ट्र, राष्ट्रीयता और राष्ट्र-राज्य के सिद्धान्त ने किस तरह यूरोप की तत्कालीन प्रमुख शक्तियों के हाथों विभिन्न देशों में हस्तक्षेप का शक्तिशाली हथियार सौंप दिया था । पैनस्लाविज्म के नाम पर, राष्ट्रीयताओं के उसूल की दुहाई देकर, रूस ने पूरे पूर्वी यूरोप में – सर्ब, क्रोट, रुथेनियन, स्लोवाक, चेक, और तुर्की, हंगरी और जर्मनी में कभी बसी स्लाव आबादी वाले क्षेत्रों में – अपने पंजे फैला रखे थे । एक देश में बसे दूसरी राष्ट्रीयता के लोग वर्चस्व की लड़ाई के मोहरे बना दिये गये और इन 'राष्ट्रीय अल्पसंख्यकों' को शक की निगाह से देखा जाने लगा । यहां, इस छोटे आलेख में, तत्कालीन यूरोप की पूरी तस्वीर रखना तो संभव नहीं, तथापि बतौर उदाहरण पोलैंड का संक्षिप्त जिक्र किया जा सकता है ।

रूस, प्रशिया और ऑस्ट्रिया ने तीन बार (1772, 1793 और 1795 में) पोलैंड का आपस में बंटवारा किया । पोलैंड का यह बंटवारा जिस तरह संपन्न हुआ, वह भी कम दिलचस्प नहीं । अठारहवीं सदी फ्रेंच एनलाइटेनमेण्ट (ज्ञानोदय) की सदी भी थी । **दिदेरो**, **वाल्तेयर**, **रूसो** और अन्य फ्रांसीसी विचारकों ने यूरोप में **ज्ञानोदय** का जो आभामंडल तैयार कर रखा था, उससे रूस भी अछूता नहीं था । रूस की जारीना **कैथरीन द्वितीय** ने पोलैंड के विघटन के पक्ष में 'सेलिब्रिटी इण्डोर्समेण्ट' की पूरी व्यवस्था कर रखी थी । थोड़े समय के लिए ही सही, कैथरीन द्वितीय के दरबार को यूरोप के 'एनलाइटेण्ड' लोगों का मुख्यालय बना दिया गया – खासकर, फ्रेंच विचारकों का । वह मास मीडिया का युग नहीं था, फिर भी जारीना ने यूरोपीय जनमत का पूरा ख्याल रखा । उसी दरबार में जारीना ने अपने राष्ट्रीयता के उसूल, मजहबी सहिष्णुता और उदारवादी विचारों की घोषणा की । महारानी का जादू ऐसा चला कि खुद वाल्तेयर और अन्य फ्रेंच विचारकों ने कैथरीन की प्रशंसा में कसीदे पढ़े, रूस को दुनिया का सबसे प्रगतिशील देश, उदारवादी विचारों का हृदय-स्थल और मजहबी सहिष्णुता का अलमबरदार घोषित कर दिया ।

'ज्ञानोदय' द्वारा अनुमोदित राष्ट्रीयता के उसूल को रूस, प्रशिया और ऑस्ट्रिया द्वारा जो व्यावहारिक रूप दिया गया, उसका परिणाम हुआ पोलैंड का विघटन । पोलैंड के खात्मे के खिलाफ यूरोप में कहीं कोई आवाज नहीं

उठी । उल्टे, लोग इस बात पर चकित थे कि रूस ने प्रशिया और ऑस्ट्रिया को इस भूभाग का इतना बड़ा टुकड़ा देकर कितनी दरियादिली दिखाई है ।

इस प्रसंग का समापन करने से पहले रूस की प्रगतिशील उदारता और मजहबी सहिष्णुता पर भी नजर दौड़ाई जा सकती है । यह सर्वविदित है कि तत्कालीन रूस में भूदास-प्रथा अपनी बर्बरताओं के साथ विद्यमान थी, रूस अपने आस-पड़ोस के देशों को हड़पता रहता था या हड़पने की फिराक में रहता था, ग्रीक ऑर्थोडॉक्स चर्च के अलावा रूस में किसी और मजहब पर पाबन्दी थी और पंथद्रोह अपराध माना जाता था । यही रूस पोलैंड में मजहबी सहिष्णुता का हिमायती बन बैठा था । पोल रोमन कैथोलिक थे, लेकिन पूर्वी प्रान्तों के लिटिल रसियन्स ग्रीक मतावलम्बी थे । ये ग्रीक मतावलम्बी मुख्यतः भूदास थे और उनके स्वामी मुख्यतः रोमन कैथोलिक । इन्हीं 'उत्पीड़ित ग्रीक मतावलम्बी लिटिल रसियन्स' के हित में रूस ने हस्तक्षेप का दावा किया था । इन भूदासों के साथ मिलकर रूसी सेना ने पोलिश स्वामियों पर धावा बोला था । पोलैंड के अधिग्रहण के बाद ये भूदास पुनः अपने स्वामियों के हवाले कर दिये गये । ('दि कॉमनवेल्थ' के सम्पादक के नाम फ्रेडरिक एंगेल्स का पत्र; 31 मार्च, 1866 ।)

प्रसंगवश, 1937 में हिटलर ने जब तत्कालीन चेकोस्लोवाकिया के जर्मन बहुल सुडेटनलैंड पर कब्जा कर लिया, तो ब्रिटेन ने कोई प्रतिरोध नहीं किया । ब्रिटिश प्रधानमंत्री नेविल चेम्बरलैन की इस कार्रवाई को इतिहास में नाजीवाद के प्रति तुष्टीकरण की संज्ञा दी जाती है । कहा जाता है कि नाजियों के विस्तार की दिशा को पूरब (सोवियत संघ) की ओर मोड़ देने के लिए ऐसा किया गया । बहरहाल, इस तुष्टीकरण का एक कारण खुद यूरोपीय राष्ट्रवाद था । इस राष्ट्रवादी नीति के तहत यूरोप के कई प्रभावशाली राष्ट्र-राज्य राष्ट्रीय समायोजन या पुनर्गठन के तहत ऐसी कार्रवाई करते रहते । ब्रिटेन खुद आयरलैंड को आजादी देने के बाद भी उसके उत्तरी हिस्से (अल्सटर) पर इसलिए कब्जा जमाये हुए था कि वह प्रोटेस्टेंट-बहुल क्षेत्र था, जबकि आयरलैंड की मुख्य आबादी रोमन कैथोलिक थी । इस प्रकार, नाजियों की कार्रवाई का विरोध करने का उनके पास कोई नैतिक आधार नहीं था ।

यूरोप और शेष दुनिया

शेष दुनिया में यूरोप के वर्चस्वशाली राष्ट्र-राज्यों ने जो कहर ढ़ाया, उसका ब्यौरा कई खण्डों में भी नहीं समा सकता । राष्ट्र के रूप में यूरोपीय देशों की 'आत्म-पहचान' शेष दुनिया के अनेक जनों और देशों की पहचानों को रौंदने तथा मिटाने की प्रक्रिया से अभिन्न रूप से जुड़ी थी । यहां उसकी एक संक्षिप्त झलक ही प्रस्तुत की जा सकती है ।

1451 से 1600 ई. के बीच करीब पौने तीन लाख अफ्रीकी दासों को यूरोप और अमेरिका भेजा गया । सत्रहवीं सदी में (खासकर कैरेबियाई द्वीप समूह में ईख की खेती में बढ़ती मांगों को पूरा करने के लिए) यह संख्या बढ़कर करीब 13.41 लाख तक जा पहुँची । अठारहवीं सदी में (1701 से 1810 ई. के बीच) साठ लाख से अधिक अफ्रीकी दासों को अफ्रीका से अमेरिका ले जाया गया । वेस्ट इंडीज की उपन्यासकार **जमैका किनकैड** लिखती हैं कि क्रिस्टोफर कोलम्बस के पांव धरने के बारह साल के भीतर ही इस भूभाग में निवास करनेवाले करीब दस लाख लोग मौत के गाल में समा चुके थे । 'अफ्रीका से अमेरिका की समुद्री यात्रा के दौरान जितने अफ्रीकियों को जहाज से समुद्र में फेंक दिया गया, उसे देखते हुए यह कहना कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी कि अटलांटिक महासागर अफ्रीका का ऑशवित्ज था ।'

यूरोपीय राष्ट्रों के बीच अफ्रीका की लूट और उसके उपनिवेशीकरण की प्रतिद्वंद्विता उन्नीसवीं सदी के अंत तक चलती रही । अफ्रीका में तब मौजूद कई साम्राज्यों – अशान्ति, घना और इदो साम्राज्यों की हस्ती मिटा दी गई । नाइजीरिया की हौसा, योरुबा और इगबो संस्कृतियां भी बर्बरतापूर्वक नई सभ्यता को भेंट चढ़ा दी गईं ।

सोलहवीं सदी के आरम्भ में अज्टेक साम्राज्य की राजधानी टेनोखटिटलान (मेक्सिको सिटी) एक भरा-पूरा महानगर था – स्पेन के सेविल या कारडोबा जैसा ही विशाल । सम्राट **मोंटेजुमा द्वितीय** के इस साम्राज्य की आबादी थी करीब डेढ़ करोड़ । 1519 ई. में **हरनाण्डो कोर्टेस** की अगुवाई में जब एक स्पेनी सैन्यदल यहां पहुंचा, तो वे जंगली लोगों की जगह एक अत्यन्त खूबसूरत, मंदिरों तथा पिरामिडोंवाले महानगर को देखकर चकित रह गये । जलापूर्ति की जटिल प्रणाली से युक्त इस महानगर के बाजार में दुनिया भर में मिलनेवाली लगभग सारी चीजें सजी थीं – और औसतन साठ हजार लोग वहां रोज खरीद-बिक्री के लिए जमा होते । इस डेढ़ करोड़ आबादीवाली सभ्यता की अपनी भाषा थी, अपना पंचांग था, अपनी उपासना-पद्धति थी और अपनी केन्द्रीय सरकार थी । मोंटेजुमा द्वितीय के विशाल राजप्रासाद में पूरा स्पेनी सैन्यदल समा सकता था ।

'सभ्य यूरोप' के कोर्टेस ने 'बर्बर' अमेरिका के मोंटेजुमा को अपना सारा सोना सौंप देने या फिर जान से हाथ धोने की धमकी दी । मोंटेजुमा ने इस तरह का आदमी पहले कभी नहीं देखा था । थोड़े असमंजस के बाद उसने अपना सारा सोना कोर्टेस को सौंप दिया । लेकिन कोर्टेस ने अपना वादा नहीं निभाया । उसने मोंटेजुमा को मार डाला और टेनोखटिटलान की घेराबन्दी कर दी । सारे मार्ग बन्द कर दिए गए । जलापूर्ति प्रणाली अवरुद्ध कर दी गई । अस्सी दिनों के भीतर इस महानगर के दो लाख चालीस हजार बाशिन्दे भूख से तड़प कर मर गये । दो वर्षों के अन्दर (1521 ई. तक) पूरा अज्टेक साम्राज्य (जिसकी जड़ें ईसा से कई शताब्दी पूर्व तक फैली हुई थीं) धराशायी हो गया ।

करीब ग्यारह वर्षों बाद 1532 ई. में यही कहानी इंका साम्राज्य के साथ दुहराई गई । **फ्रांसिस्को पिजारियो** की अगुवाई में स्पेनी सेना ने इंका साम्राज्य का सारा सोना हथियाने के बाद इंका राजा **अताहुआल्पा** को मौत के घाट उतार दिया । दो साल के भीतर स्पेनियों ने इंका साम्राज्य को भी नेस्तनाबूद कर दिया । (ओरी ब्रेफमैन और रॉड ए बेकस्ट्रॉम, 'दि स्टारफिश एण्ड दि स्पाइडर', लंदन, 2006 ।) भारत, चीन और एशिया के अन्य देशों के उदाहरण हम यहां छोड़ दे रहे हैं ।

लूट, फरेब, धोखाधड़ी, जनसंहार और अकल्पनीय बर्बरता के जरिए 'सभ्य' यूरोप के शक्तिशाली राष्ट्र-राज्यों ने एशिया, अफ्रीका और लातिन अमेरिका में अपनी विजय पताका फहराई ।

राष्ट्रवाद की सैद्धान्तिकी

राष्ट्र-राज्यों के विकास के साथ-साथ राष्ट्र तथा राष्ट्रीयता सम्बन्धी सैद्धान्तिकी का भी विकास हुआ । इस सैद्धान्तिकी में यूरोप के लगभग सभी प्रमुख विचारकों ने अपना योगदान दिया । तथापि, इस संदर्भ में जो नाम प्रमुखता से उद्धृत किये जाते रहे हैं, वे हैं : **ज्यां बोदिन, गियामबातिस्ता विचो, योहान्न गॉटफ्राइड हर्डर, एमानुएल-जोसेफ सिएस, थॉमस हॉब्स, हेगेल, कार्ल मार्क्स और फ्रेडरिक एंगेल्स, मैक्स वेबर, लेनिन, रोजा लक्जमबर्ग,** आदि । इस सैद्धान्तिकी के विभिन्न पक्षों पर चर्चा में प्रायः **जे एस मिल, अन्टोनियो ग्राम्शी, मिशेल फूको, थियोडोर अदोर्नो और बेनेडिक्ट एंडरसन**, आदि भी उद्धृत किए जाते हैं । चूंकि राष्ट्र यूरोप में आधुनिकता का एक प्रमुख संघटक अंग माना गया, इसीलिए आधुनिकता का अन्दरूनी अन्तरविरोध भी इस विमर्श में प्रतिबिम्बित हुआ ।

इतिहास में जीविकोपार्जन की विभिन्न प्रणालियों के अनुरूप मानवजाति का समुदाय के विभिन्न रूपों में पुनस्संगठन होता रहा है । शिकारी और फलसंग्राहक दौर में मातृसत्ताक और पितृसत्ताक जनों, एवं आगे चलकर, जनों के संघ के रूप में मानव समुदाय का आदिम रूप सामने आया । जनों की क्षेत्रीय सम्प्रभुता सरदारी-प्रथा (चीफडम) के रूप में अस्तित्व में आई । मानव समुदाय के इस रूप की विभिन्न भौगोलिक अंचलों में अपनी विशिष्टताएँ भी रहीं । कृषि युग में कृषि-कर्म-जनित श्रम-विभाजनों पर आधारित जनपदीय समाज के रूप में, और आगे चलकर कृषि साम्राज्यों के रूप में मानव समुदाय का पुनर्गठन हुआ, जिसकी मूल इकाई ग्राम

थे । इस युग में भूस्वामियों की सम्प्रभुता जनपदीय राजतांत्रिक प्रणाली, और फिर साम्राज्य के रूप में सामने आई । विभिन्न भौगोलिक क्षेत्रों में इस प्रणाली के भी विशिष्ट रूप विकसित हुए । रक्त-सम्बन्धों पर आधारित जनों के सदस्यों का कृषि युग में राजा की प्रजा के रूप में रूपान्तरण हुआ ।

विनिमय के युग में, यूरोप के पूंजीवादी देशों में, मानव समुदाय का पुनस्संगठन **राष्ट्रों** के रूप में सामने आया और इस नये वर्ग की सम्प्रभुता **राष्ट्र-राज्य**, और इन **राष्ट्र-राज्यों की औपनिवेशिक प्रणाली** के रूप में फलीभूत हुई । कृषि युग की प्रजा का राष्ट्र-राज्य के नागरिक के रूप में रूपान्तरण हुआ । बहरहाल, मानव समुदाय का यह रूप यूरोप की विशिष्ट परिस्थितियों की उपज था, जहां सामंती कृषि युग में रोमन चर्च की सम्प्रभुता सर्वोपरि थी – मजहबी सोपानों पर आधारित जनपदीय राज्य तथा रजवाड़े चर्च की सम्प्रभुता के अधीन थे और पूंजी के घरेलू बाजार के निर्माण में बड़ी रुकावट बन कर खड़े थे । (दरअसल, जर्मनी के एकीकरण की दिशा में उठाया गया पहला महत्वपूर्ण कदम 1834 ई. में कई जर्मन राज्यों द्वारा गठित '**कस्टम्स यूनियन**' था ।)

इस प्रकार, राष्ट्र एक ऐतिहासिक उपज था । वह यूरोप में, पूंजी के युग में, मानव समुदाय का एक विशिष्ट रूप था । लेकिन इसे मानव समुदाय के 'स्वाभाविक रूप' के बतौर पेश किया गया, मानो **मानव जाति ने समुदाय के रूप में अपने अस्तित्व का स्वाभाविक रूप आखिरकार पा लिया हो ।** इसके विशिष्ट यूरोपीय रूप को भी सार्विक रूप देते हुए इन पूंजीवादी राष्ट्र-राज्यों ने इसे शेष दुनिया पर भी थोपने की कोशिश की । इस कोशिश, और पूंजीवादी-साम्राज्यवादी राष्ट्रों की प्रतिद्वंद्विता के परिणामस्वरूप अफ्रीका के कई देश – नाइजीरिया, कांगो, अंगोला, रुवाण्डा, बुरुण्डी, आदि लम्बे समय तक रक्तपातपूर्ण गृहयुद्धों का शिकार बने जिनमें दसियों लाख आबादी मौत के घाट उतार दी गई । अन्य जगहों पर भी कमोबेश ऐसी ही स्थिति थी । भारत-पाक विभाजन, इजराइल-फिलिस्तीन समस्या, आदि भी इसी का परिणाम थे । अफ्रीका में निर्यात किया गया राष्ट्र-राज्य आज सोमालिया में दम तोड़ रहा है । अफगानिस्तान और इराक में 'राष्ट्र-निर्माण' का कहना ही क्या ?

अतः **माइकल हार्ट** और **अंटोनियो नेग्री** ने ठीक ही लक्षित किया है : सवाल यह नहीं है कि राष्ट्र कल्पित समुदाय है अथवा नहीं, बल्कि यह है कि **समुदाय के रूप में कल्पना का एकमात्र जरिया बन गया राष्ट्र** । यह कल्पना की दरिद्रता थी – उसे बस एक खास रूप में सीमित कर देना था । (माइकल हार्ट और अंटोनियो नेग्री, 'एम्पायर', लंदन, 2001) विनिमय के युग में भी मानव समुदाय देश-काल की भिन्नताओं के कारण अलग-अलग रूप ले सकता है और उसे लेना चाहिए – इस संभावना को कल्पना के स्तर पर भी खारिज कर दिया गया ।

उपर्युक्त सोच का स्वाभाविक परिणाम यह था कि यूरोप के कतिपय राष्ट्रवादी विचारकों की नजर में स्वतंत्रता के बाद भारत का बिखराव, उसका 'बाल्कनाइजेशन' तय माना गया । उनके अनुसार, ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन के खिलाफ संघर्ष में बनी भारत की विभिन्न राष्ट्रीयताओं की एकता स्वतंत्रता के बाद टिकनेवाली नहीं थी । इसीलिए उन्हें उम्मीद थी कि स्वतंत्रता के कुछ दशकों बाद ही भारत में कई स्वाधीन राष्ट्र-राज्य बन जाएंगे ।

बहरहाल, आजादी के करीब बासठ वर्षों बाद, कश्मीर घाटी और उत्तर-पूर्व के कुछ क्षेत्रों को छोड़कर, शेष भारत की एकता, अपनी तमाम विविधताओं के बावजूद, और सुदृढ़ हुई है । दूसरी ओर, यूरोप में 1648 ई. के बाद से ही शुरू राष्ट्र-राज्यों के बनने-बिगड़ने का दौर साढ़े तीन सौ साल बाद आज भी बदस्तूर जारी है । बीसवीं सदी के अन्तिम दशक और इक्कीसवीं सदी के पहले दशक में सबसे ज्यादा नये राष्ट्र-राज्य यूरोप में ही बने हैं । कई पश्चिमी लेखक इसे यूरोप के 'बाल्कनाइजेशन' का दौर भी कहते हैं ।

1922 ई. में रूस के जो पूर्व-उपनिवेश 'स्वेच्छा से' सोवियत संघ में शामिल हुए थे, वे 1992 ई. के बाद (सोवियत संघ के पतन की स्थिति में) 'स्वेच्छा से' राष्ट्रों के आत्म-निर्णय के अधिकार का उपयोग करते हुए, रूस से नाता तोड़ बैठे । फलतः, पूर्वी यूरोप और मध्य एशिया में अनेक राष्ट्र-राज्यों का पुनरोदय हुआ – एस्टोनिया, लाटविया, लिथुआनिया, बेलारूस (बेलारूस को पहले भी संयुक्त राष्ट्र संघ में वोट का अधिकार प्राप्त था), यूक्रेन, मोल्डोवा,

अजरबैजान, जॉर्जिया, कज़ाकिस्तान, किर्गिजिस्तान, ताजिकिस्तान, उज्बेकिस्तान और तुर्कमेनिस्तान । खुद रूसी फेडरेशन को भीषण रक्तपातपूर्ण चेचन विद्रोह से निपटना पड़ा । इन राष्ट्र-राज्यों के पुनरोदय की पृष्ठभूमि में यह क्षेत्र अमेरिका-नाटो और रूस के बीच तनावपूर्ण राजनीतिक प्रतिद्वंद्विता का क्षेत्र बना हुआ है । जॉर्जिया के दो बागी प्रदेशों – अबखाजिया तथा दक्षिण ओसेटिया – को लेकर रूस-जॉर्जिया युद्ध में, और सर्बिया से स्वतंत्रता की घोषणा कर चुके कोसोवो में भी, यह खुलकर प्रकट हुआ । यूक्रेन में भी गैलीसिया, बुकोविना और उप-कार्पेथियन क्षेत्र में बसी आबादी (जो मूल यूक्रेनियन आबादी से भिन्न है) पृथक राष्ट्र-राज्य के लिए प्रयासरत है । यूक्रेन का ट्रांसनीस्त्र क्षेत्र रूस के सैनिक पहरे में है ।

कम्युनिस्ट शासन की समाप्ति के बाद युगोस्लाविया के भी सारे संघटक अब स्वाधीन राष्ट्र-राज्य बन चुके हैं – सर्बिया, मोंटेनीग्रो, क्रोएशिया, स्लोवेनिया, बोस्निया-हर्जेगोविना और मेसीडोनिया । इन राष्ट्र-राज्यों के गठन की प्रक्रिया अनेक जगहों पर, खासकर बोस्निया-हर्जेगोविना और कोसोवो में, काफी रक्तपूर्ण रही । स्वाधीन मेसीडोनिया और यूनान के मेसीडोनिया प्रदेश के एकीकरण की मांग के कारण मेसीडोनिया-यूनान सम्बन्ध भी तनावग्रस्त है । चेकोस्लोवाकिया भी अब दो राष्ट्र-राज्यों – चेक और स्लोवाकिया में बंट चुका है ।

बहरहाल, यह प्रक्रिया सिर्फ पूर्व कम्युनिस्ट-शासित देशों तक ही सीमित नहीं है । जैसाकि हम पहले देख चुके हैं, यूरोप में राष्ट्र-राज्यों के स्वाधीन विकास ने अनेक राष्ट्रीय युद्धों और बीसवीं सदी में यूरोप की धरती पर दो-दो विश्व-युद्धों को जन्म दिया । 1950 के दशक में यूरोपीय आर्थिक समुदाय, और फिर यूरोपीय संघ के गठन का एक उद्देश्य नाजीवाद जैसी उग्र राष्ट्रवादी प्रवृत्तियों पर अंकुश लगाना भी था । तथापि, यूरोपीय संघ के गठन ने भी राष्ट्रीयता-जनित आन्दोलनों को रोकने में कामयाबी हासिल नहीं की । उल्टे, ऐसे आन्दोलनों को एक यूरोपीय मंच हासिल हो गया । छोटी-छोटी राष्ट्रीयताएँ जहां अपने-अपने मूल राष्ट्र-राज्यों से पृथक होना चाहती हैं, वहीं वे यूरोपीय संघ तथा नाटो का सदस्य बने रहकर यूरोप के एकीकृत बाजार तथा सुरक्षा का लाभ भी उठाना चाहती हैं ।

यूरोपीय संघ का मुख्यालय बेल्जियम की राजधानी ब्रुसेल्स में है । फ्रेंच-भाषी ब्रुसेल्स डच-भाषी फ्लेमिंग्स आबादी से घिरा है । बेल्जियम में डच-भाषी फ्लेमिंग्स और फ्रेंच-भाषी वलून्स के बीच बढ़ती खाई अब विभाजन की कगार पर जा पहुंची है – फ्लेमिंग्स अब स्वाधीन फ्लैण्डर्स की मांग की ओर बढ़ रहे हैं । स्पेन में बास्क-कैटलान पृथकतावादी आन्दोलन काफी पुराना है । इटली के लोम्बार्डी क्षेत्र में भी पृथकता की भावना बलवती हुई है ।

1707 ई. में 'एक्ट ऑफ यूनियन' के जरिए स्कॉटलैंड और इंगलैंड ने अपनी-अपनी पृथक संसदों की जगह पूरे ग्रेट ब्रिटेन के लिए एक संसद की स्थापना की थी । करीब तीन सौ साल बाद युनाइटेड किंगडम (ब्रिटेन) के स्कॉट अब स्कॉटलैंड की आजादी की दिशा में काफी आगे बढ़ चुके हैं ।

राष्ट्र-राज्य अपने अन्दरूनी अन्तरविरोधों और सूचना-संचार क्रान्ति तथा ज्ञान अर्थव्यवस्था-जनित वैश्वीकरण के दबावों के कारण आज अपनी प्रासंगिकता के प्रश्नों से जूझ रहा है । पश्चिम के ही कई विचारक (जिनमें 'एम्पायर' के लेखक भी शामिल हैं) राष्ट्र-राज्य को अप्रासंगिक मानने लगे हैं, या फिर उसकी भूमिका को गौण अथवा काफी सीमित मानते हैं । राष्ट्र-राज्यों के विश्व संगठन के रूप में संयुक्त राष्ट्र संघ की भूमिका पहले भी कोई खास सशक्त नहीं थी, अब और भी दयनीय हो गई है । एक ओर उसके पुनर्गठन की मांग जोर पकड़ रही है, वहीं दूसरी ओर, जी-आठ, जी-बीस, शांघाई-पांच (शंघाई सहयोग संगठन) जैसे वैश्विक और क्षेत्रीय संगठनों की सक्रियता बढ़ी है । आर्थिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक, पर्यावरण-संबंधी, आदि विभिन्न क्षेत्रों में वैश्विक, क्षेत्रीय तथा द्विपक्षीय सम्मेलनों, सन्धियों तथा संस्थाओं के जरिए नये शक्ति समीकरण बनाने के प्रयासों को साफ-साफ लक्षित किया जा सकता है ।

मानव समुदाय का पुनस्संगठन नये-नये रूपों में सामने आ रहा है और इंटरनेट उसका माध्यम बन रहा है । वर्ल्ड सोशल फोरम से लेकर इंटरनेट के चैट-रूम्स तक, जमीनी स्तर के विविध संगठनों से लेकर ब्लॉग्स, फाइल

शेयरिंग साइट्स, फेसबुक, ट्विटर, गूगल, यू-ट्यूब, विकीपीडिया, सेकंड लाइफ, ओपेन सोर्स सॉफ्टवेयर मूवमेंट तथा इन्नोवेशन कम्युनिटीज तक नये-नये समुदाय बन रहे हैं, और वर्चुअल तथा रीयल का एक दूसरे में रूपान्तरण हो रहा है ।

इन चंचल समूहों की एक खास लाक्षणिकता उनकी अन्दरूनी संरचना में विविधता का होना है । आज किसी व्यक्ति, संस्था और राजनीतिक आन्दोलन का एक प्रमुख यूएसपी (यूनिक सेलिंग प्रोपोजीशन) उसकी एकल राष्ट्रीयता नहीं, उसमें अन्तर्निहित बहुलता अथवा विविधता है । पिछले अमेरिकी राष्ट्रपति चुनाव में बराक ओबामा की ऐसी ही छवि आकर्षण का केन्द्र बनी – केन्याई मूल के अफ्रीकी-अमेरिकी मुस्लिम पिता, श्वेत अमेरिकी क्रिश्चियन माँ, इंडोनेशियाई सौतेली बहन, आदि ।

राष्ट्रवाद के पराभव का एक और लक्षण क्षुद्र प्रतीकों में उसका सिमटना है । लहसुन, फ्रेंच फ्राइ, आदि राष्ट्रवाद के प्रतीक बना दिए गए हैं । ब्रिटेन की महारानी जब इटली के दौरे पर गई, तो वहाँ उन्होंने खाने में लहसुन नहीं लेने की घोषणा की । ब्रिटेन में भारतीय करी के बढ़ते क्रेज के बरक्श महारानी का यह कदम ब्रिटिश राष्ट्रवाद का प्रतीक माना गया – नो गार्लिक नेशनलिज्म ! इराक मामले में सहयोग नहीं करने के कारण कुछ अमेरिकियों ने फ्रेंच फ्राइ का बहिष्कार कर फ्रांस के प्रति अपना राष्ट्रवादी रोष प्रकट किया ।

राष्ट्र-राज्यों के पतन की स्थिति में विश्व के कई अंचलों में अ-राजक दलों के रूप में हथियारबंद गिरोहों, युद्ध-सरदारों और आतंकवादी समूहों का बोलबाला बढ़ा है । (अमेरिका काफी पहले से ही विश्व के कुछ हिस्सों में अपने 'राष्ट्रीय हितों' का कार्यान्वयन भाड़े के गिरोहों को 'आउटसोर्स' करता रहा है ।) ये 'नन-स्टेट एक्टर्स' किसी क्षेत्र की अनसुलझी समस्याओं के साथ जुड़कर कहीं-कहीं राष्ट्र-राज्य के अस्तित्व को ही खतरे में डाल रहे हैं ।

राष्ट्र, राष्ट्र-राज्य और राष्ट्रवाद की विश्व में अब भी महत्वपूर्ण भूमिका बनी हुई है, लेकिन यूरोप की जिन विशिष्ट स्थितियों में उनका उत्थान हुआ, लगता है, उसका एक चक्र अब पूरा होनेवाला है ।

यूरोप में राष्ट्रवाद को चुनौती

यूरोप में राष्ट्रवादी विचारधारा को आरम्भ से ही चुनौती मिलनी शुरू हो गई थी । कहने की जरूरत नहीं कि यूरोप के बुर्जुआ आन्दोलन में हमेशा एक रैडिकल पक्ष भी रहा जिसका सामाजिक आधार सामान्य मेहनतकश समूह थे – कारीगर, छोटे व्यवसायी, मजदूर, गरीब किसान, शहरी मध्य वर्ग का निचला हिस्सा, आदि । ये समूह तब विभिन्न गुप्त सम्प्रदायों, क्रान्तिकारी तथा कम्युनिस्ट दलों और रैडिकल राजनीतिक आन्दोलनों में अपनी सक्रिय उपस्थिति दर्ज कर रहे थे । इंगलैंड में **लेवलर्स** के पीछे **डिगर्स** थे, जर्मनी में **मार्टिन लूथर** (1483-1546) के पीछे **थॉमस मुंजर** (1498-1525) थे, धर्म सुधार आन्दोलन के दौरान स्विट्जरलैंड, जर्मनी और नीदरलैण्ड्स में **एनाबैपटिस्ट** थे, तो फ्रांस में **जेकोबिन्स** और **फ्रांक्वा नोएल बेब्यूफ** (1760-1797) थे । इसके अलावा, **फ्रीमेजन्स** तथा **क्वेकर** जैसे सम्प्रदाय थे । आगे चलकर, **चार्टिस्ट**, **कम्युनिस्ट** और **समाजवादी-जनवादी** दल सामने आये । इन आन्दोलनों ने 'लोकप्रिय सम्प्रभुता' की अवधारणा को बल पहुंचाया, राष्ट्र की एकरूपता को चुनौती दी और कालक्रम में राष्ट्रों के जनतांत्रीकरण का मार्ग प्रशस्त किया । तथापि, जनतांत्रिक संस्थाओं का विकास बीसवीं सदी के प्रथम अर्धांश तक जारी रहा – यहां तक कि सार्विक वयस्क मताधिकार भी बीसवीं सदी में आकर ही फलीभूत हुआ ।

इसके अलावा, यूरोप में ही राष्ट्रवादी विचारों के समानान्तर ऐसी विचार प्रणालियाँ भी सामने आईं, जिनमें राष्ट्र को गौण महत्व ही दिया गया । अधिक से अधिक उसे एक संक्रमणकालीन भूमिका ही प्रदान की गई । राष्ट्र को मानव समुदाय का स्वाभाविक रूप मानने के बजाय पंथ-समुदायों को, वर्ग को, या फिर सभ्यतामूलक समाजों को मानव समुदाय का अग्रणी रूप माना गया । ये सारी श्रेणियाँ राष्ट्रोपरि श्रेणियाँ थीं । राष्ट्र-चेतना की जगह वर्ग-चेतना, पंथ-चेतना या सभ्यतामूलक चेतना को अधिक तरजीह दी गई ।

उत्पादक शक्ति और उत्पादन-संबंध के बीच के अन्तरविरोध के आधार पर मानव समाज के इतिहास का निरूपण करते हुए मार्क्सवादी वर्गीय अस्मिता और वर्गीय अन्तर्राष्ट्रीयतावाद पर जोर देते हैं । **टॉयनबी** इतिहास के अपने अध्ययन में मानव समाज की कुल इक्कीस प्रजातियों (स्पीसीज) की खोज करते हैं, जिनमें कुछ मृत हो गईं । शेष 'एपरेंटेशन-एण्ड-एफिलिएशन' के जरिए नये-नये रूपों में अवतरित होती रहीं । जीवित प्रजातियों में उन्होंने **क.** पश्चिमी क्रिश्चियन समाज, **ख.** ऑर्थोडॉक्स क्रिश्चियन समाज, **ग.** इस्लामी समाज, **घ.** हिन्दू समाज, और **ङ.** फार ईस्टर्न समाज का जिक्र किया है । उनके अनुसार, फार ईस्टर्न समाज (जो खुद सिनिक समाज का उत्तराधिकारी था) दो भागों में बंट गया – मुख्य भाग के रूप में चीनी समाज और शेष कोरियाई-जापानी समाज । इस प्रकार वे राष्ट्र की जगह मानव समाज की इन प्रजातियों को अधिक महत्व देते हैं । **हंटिंग्टन** की सभ्यताओं से संबंधित थीसिस दरअसल टॉयनबी की प्रस्थापनाओं का ही सरलीकृत रूप है । बहरहाल, यहां इन सारी चीजों की पड़ताल में जाना संभव नहीं । उग्र राष्ट्रवाद पर अंकुश लगाने के लिए जहां अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की जरूरत महसूस की जाती रही, वहीं राष्ट्रों से ऊपर उठकर जो अन्तर्राष्ट्रीय संगठन बने, उनमें समय-समय पर राष्ट्रवाद-जन्य दरारें भी पड़ती रहीं ।

इन सबसे आगे बढ़कर, खुद यूरोप में आधुनिकता के मानक समझे जानेवाले सभी संघटक तत्वों (नवजागरण, धर्म-सुधार, ज्ञानोदय, आदि) की आलोचनात्मक समीक्षा की गई । यहां उन सारे विमर्शों का सार-संक्षेप देना भी संभव नहीं । इटली, जो यूरोपीय नवजागरण का केन्द्र था, के ही एक विचारक **बेनेदित्तो क्रोचे** (1866-1952) का एक उद्धरण नमूने के तौर पर पेश है, "नवजागरण का आन्दोलन एक कुलीनवर्गीय आन्दोलन बना रहा और उसका प्रभाव अभिजन-मंडलों तक सीमित रहा । इटली में अभिजन-मंडल ही इस आन्दोलन की जननी और धाय दोनों था । वह दरबारी मंडलों से नीचे नहीं उतरा । .... दूसरी तरफ, धर्म-सुधार आन्दोलन में सामर्थ्य थी कि वह जनता के बीच पहुँच सके । लेकिन उसने इसकी कीमत अपने अंतरंग विकास के नाश के रूप में और अपने जीवंत जीवन-तत्वों की मंद और प्रायः अवरुद्ध परिपक्वता के द्वारा चुकाई । .... लूथर.... साहित्य और अध्ययन के प्रति उपेक्षा और दुश्मनी का नजरिया अपनाते हैं । इसकी वजह से **इरैजमस** को यह कहने का साहस हुआ कि जहां भी लूथरवाद का राज है, वहां साहित्य की मृत्यु हो जाती है । निश्चित रूप से जर्मन प्रोटेस्टेंटवाद लगभग दो सदियों तक अध्ययन समीक्षा और दर्शन के क्षेत्र में बहुत कुछ अनुर्वर ही रहा । ...." (प्रसंगवश, **ग्राम्शी** की वैचारिक यात्रा एक हद तक क्रोचे की आलोचनात्मक समीक्षा के जरिये ही आगे बढ़ती है ।)

उत्तर-आधुनिक विमर्श दरअसल यूरोप की उसी विचार-यात्रा का एक पड़ाव है । यूरोप का अपना आत्मानुसंधान है, उसे उस वैचारिक भंवर से बाहर निकाल लाने की कोशिश जिससे उसका बच पाना काफी कठिन होता जा रहा था । चूंकि यह यूरोप (और 'पश्चिम') के समक्ष उत्पन्न वैचारिक चुनौती की उपज है, इसीलिए यह गैर-पश्चिमी देशों का, जिनका ऐतिहासिक अनुभव भिन्न रहा है और जिनकी समृद्ध वैचारिक परम्परा रही है, मार्गदर्शक नहीं हो सकता । अधिक-से-अधिक हम उनका संदर्भ के रूप में ही इस्तेमाल कर सकते हैं । उत्तर-आधुनिकता आधुनिकता की आलोचनात्मक समीक्षा के पूरे क्षेत्र (स्पेस) पर पुनः यूरोप अथवा पश्चिम के वैचारिक वर्चस्व को कायम रखने का एक प्रयास भी है । हम जो (यूरोपीय अर्थों में) आधुनिक नहीं हैं, उत्तर-आधुनिकता भला हमारा मार्गदर्शन कैसे कर सकती है ?

कुल मिलाकर, एक खास ऐतिहासिक अवस्था में यूरोप में पनपा राष्ट्रवाद भारतीय समाज के मूल्यांकन का वैचारिक आधार प्रदान नहीं करता । अगर कोई उसे आधार मानकर भारतीय समाज को समझने का प्रयास करेगा, तो वह विभिन्न यूरोपीय चिन्तकों की भाँति गलत निष्कर्ष पर पहुँचेगा ।

गैर-पश्चिमी देशों में राष्ट्रवादी विमर्श

राष्ट्रवाद समेत आधुनिकता के विभिन्न पहलुओं की आलोचना का एक बड़ा साहित्य उपनिवेशों, अर्ध-उपनिवेशों और अन्य उत्पीड़ित देशों में मिलता है । इन देशों के प्रबुद्ध लोगों के लिए यूरोप एक विचित्र स्थिति उपस्थित करता रहा । सच है कि यूरोप का कोई एक चित्र, कोई एक पाठ, कोई एक

भाष्य नहीं हो सकता था । एक ही साथ, एक ही समय में यूरोप बहुत कुछ था – दादावादी कोलाज की तरह सब कुछ एक जगह । (ओरहान पामुक, 'अदर कलर्स', लंदन, 2007) नवजागरण भी सच था और बर्बर औपनिवेशीकरण भी, ज्ञानोदय भी सच था और दास व्यापार भी, सुधार आन्दोलन भी सच था और उपनिवेशों में जबरन धर्मान्तरण भी । औद्योगिक क्रान्ति भी सच थी, और उपनिवेशों की खुली लूट के जरिये किया गया आदिम संचय भी ।

यूरोप (और पश्चिम) सचमुच सम्मोहनकारी था । उसके पास **दांते** थे, **मिल्टन** थे, **सर्वांतीज**, **शेक्सपीयर** और **गोएठे** थे । **माइकलएंजेलो** और **टिशियान** थे, **राफेल** और **रेम्ब्रां** थे । और सर्वोपरि, उसके पास **लियोनार्डो दा विंची** थे । यूरोप के पास **कोपरनिकस** थे**, गेलीलियो** और **न्यूटन** थे, **लाइबनीज** और **कारडानो** थे**, जेम्स वाट**, **एडिसन**, **बेल** और **फैरेडे** थे । **बेकन** थे, **देकार्ते** थे, **हॉब्स** थे, **कांट**, **स्पिनोजा** और **हेगेल** थे । **एडम स्मिथ**, **रिकार्डो**, **सिसमोंडी** और **कार्ल मार्क्स** थे । **रूसो**, **दिदेरो** और **वाल्तेयर** थे । उसके पास **इंगलैंड** की **क्रॉमवेलियन** (1649) और **गौरवशाली क्रान्ति** (1688) थी, **अमेरिकी स्वातंत्र्य-युद्ध** (1776) और **फ्रांसीसी राज्य-क्रान्ति** (1789) थी । जीवन के हर क्षेत्र में उसके पास आधुनिक मानक थे । यूरोप यूं ही हर नये विचार, नये विज्ञान, नई तकनीक, नये समाज और नई राजनीतिक संस्थाओं का प्रस्थान-बिन्दु नहीं बन गया था ।

और यही यूरोप शेष दुनिया के लिए सचमुच दुःस्वप्न भी था । जहां-जहां उसके कदम पड़े, वह जमीन लहूलुहान हो उठी । जली हुई धरती – **बेन ओकरी** की **'दि फेमिश्ड रोड'** । 'स्वतंत्रता, समानता और भाईचारा' के यूरोप ने शेष दुनिया में परतंत्रता, विषमता और नस्लभेद की रक्तरंजित मुहिम छेड़ रखी थी । उसके महान साहित्यकार, दार्शनिक, वैज्ञानिक और राजनीतिज्ञ उसकी इस मुहिम के उत्साही समर्थक थे । दुनिया को 'अंधकार से निकालने' और 'सभ्य बनाने' के अभियान में अगुवाई करनेवाले उनके राजनयिक, सैन्य अधिकारी, विचारक और पुरोहित झूठ, धोखाधड़ी, भ्रष्टाचार, नशीले पदार्थों के व्यापार, सोना-चांदी तथा कलाकृतियों की लूट में शानी नहीं रखते थे । **थॉमस जेफरसन** ने अपनी 'नोट्स ऑन दि स्टेट ऑफ वर्जीनिया' में लिखा, 'ईश्वर न्यायप्रिय है, इसका ख्याल आते ही, अपने देश के बारे में सोचकर मेरी तो कंपकंपी छूट जाती है ।'

वे एक ही साथ महान भी थे और मक्कार भी, वे चमत्कारी भी थे और चालबाज भी, ईश्वर भी थे और शैतान भी । पश्चिम के इसी पाखण्ड पर **मार्क ट्वेन** ने लिखा था, 'हमारे देश में तीन वर्णनातीत अनमोल चीजें हैं : अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता, अंतरात्मा की स्वतंत्रता, और इन दोनों स्वतंत्रताओं पर कभी अमल न करने की चतुराई ।'

सच है कि शेष दुनिया के समाजों की अपनी बर्बरताएँ थीं, अपनी क्रूरताएँ थीं । क्या ये समाज अपनी बर्बरताओं से मुक्ति के लिए यूरोप के आईने में अपना भावी चेहरा देख सकते थे ? क्या यूरोप उन्हें अपनी क्रूर सामाजिक रूढ़ियों और संस्थाओं से मुक्त कर स्वतंत्रता, समानता और प्रगति की एक नई दुनिया का साक्षात् करा सकता था ? ये समाज बार-बार यूरोप के आईने में झांकने की कोशिश करते । लेकिन आईना टूट जाता, टूटे आईने में उन्हें अपना चेहरा टूटा-फूटा, बदरंग, स्किजोफ्रेनिक नजर आता (**जेम्स जॉयस**, **'यूलीसिस'**) । **केन केसी** (**'वन फ्ल्यू ओवर दि कक्कूज नेस्ट'**) द्वारा एक भिन्न संदर्भ में प्रयुक्त शब्द-समूह भी हम यहां ले सकते हैं : 'साइको-सिरामिक्स – द क्रैक्ड पॉट्स ऑफ मैनकाइण्ड ।'

बहरहाल, यूरोप अथवा पश्चिम की इस चुनौती से निपटने के लिए उत्पीड़ित देशों में वैचारिक विमर्श की एक भिन्न परम्परा मिलती है । **दादाभाई नौरोजी**, **महादेव गोविन्द राणाडे**, **महात्मा गांधी**, **सन यात-सेन**, **रवीन्द्रनाथ ठाकुर**, **जवाहरलाल नेहरू**, **माओ जेदोङ**, **लु शुन**, **रजनी पाम-दत्त**, **प्रेमचंद**, **एम एन रॉय** से लेकर **ऐमी**

सीजैर ('डिस्कोर्स ऑन कोलोनियलिज्म', 1950); **फ्रांज फैनन** ('ब्लैक स्किन, व्हाइट मास्क्स', 1952 ; 'दि रेचेड ऑफ दि अर्थ', 1961); **अल्बर्ट मेम्मी** ('दि कोलोनाइजर एण्ड दि कोलोनाइज्ड', 1965); **क्वामे एनक्रूमा** ('कनसिएन्सिज्म', 1970); **एडवर्ड सईद** ('ओरिएण्टलिज्म', 1978 ; 'कल्चर एण्ड इम्पीरियलिज्म', 1993); **चिनुआ अचेबे** ('थिंग्स फॉल एपार्ट'); **एनगुगी वा थियोंगो** ('डिकोलोनाइजिंग दि माइण्ड : दि पोलिटिक्स ऑफ लैंग्वेज इन अफ्रीकन लिटरेचर'); आदि विमर्श की एक लम्बी परम्परा रही है, जिसकी एक झलक देना भी यहां संभव नहीं । इस विमर्श में **ज्यां-पॉल सार्त्र**, **मिशेल फूको**, फ्रैंकफुर्ट स्कूल के विचारक **अदोर्नो** और **मैक्स होर्खाइमर** एवं अन्य उत्तर-आधुनिक दार्शनिक भी प्रायः उद्‌धृत किए जाते हैं ।

ऐमी सीजैर यह दिखलाते हैं कि किस तरह उपनिवेशवाद खुद औपनिवेशिक ताकतों को 'डिसिविलाइज' करता है – यातना, हिंसा, नस्लीय घृणा और अनैतिकता तथाकथित सभ्य राष्ट्रों के लिए बोझ बनती जाती है और उपनिवेश के स्वामियों को बर्बरता के गर्त्त में डुबोती जाती है । इसका अन्तिम परिणाम खुद यूरोप की अधोगति है । 'यूरोप का बचना नामुमकिन है ।' उन्होंने लिखा कि किस तरह अपनी श्रेष्ठता के दंभ में, दुनिया को सभ्य बनाने को मदमत्त यूरोप एक 'बर्बर अन्य' की सृष्टि करता है । 'बर्बर नीग्रो का विचार एक यूरोपीय आविष्कार है – नेग्रीट्युड इस बर्बर नीग्रो को उखाड़ फेंकने का चमत्कारी हथियार साबित हुआ है ।'

फ्रांज फैनन ('दि रेचेड ऑफ दि अर्थ') बताते हैं कि यूरोप खुद तीसरी दुनिया की सृष्टि है । उपनिवेशों और अन्य उत्पीड़ित देशों के बौद्धिक समुदाय का एक हिस्सा न सिर्फ उन दिनों पश्चिम में प्रचलित विभिन्न विचारशाखाओं से गहरे रूप से प्रभावित था और उन्हीं की रोशनी में, उन्हीं के नक्शेकदम पर अपने समाज की भावी तस्वीर देखता था, बल्कि उसकी नजर में मानवजाति में जो भी उदात्त है, वरेण्य है, उन सब का मूर्तिमान रूप था यूरोप । वह भी यूरोप होना चाहता था, उसे जीना चाहता था । रोजमर्रे की आदतों से लेकर, टेबल मैनर्स और यौन आचरण तक में इस तबके की जेहन में हमेशा 'यूरोप में लोग जैसा करते हैं, वैसा ही करने' की बात घूमती रहती । उनके मन में यूरोप की एक परी-कथा सरीखी छवि थी । यूरोप के वे लेखक भी उनके आदर्श थे जो उन्हें 'जाहिल और असभ्य' मानते । (ओरहान पामुक, वही) तुर्की के सम्बन्ध में ओरहान पामुक ने इस प्रवृत्ति का दिलचस्प विवरण दिया है । 1947 में फ्रेंच लेखक **आंद्रे जिद** को नोबेल पुरस्कार दिए जाने से आधुनिक तुर्की साहित्य के महान रचनाकार **अहमत हमदी तानपिनार** कितने आह्लादित थे, जबकि जिद तुर्कों के प्रति काफी हिकारत का भाव रखते थे । तानपिनार के (और खुद पामुक और हम जैसे कइयों के) आदर्श लेखक थे **दोस्तोएव्स्की** । दोस्तोएव्स्की पैनस्लाविज्म के उत्साही समर्थक थे और 1877-78 में रूस-ऑटोमन युद्ध होने पर उन्होंने कैथेड्रल जाकर अश्रुपूर्ण नेत्रों से रूसियों की जीत के लिए प्रार्थना की थी । (तुर्की में यह रिवाज था कि दोस्तोएव्स्की के प्रसिद्ध उपन्यास 'ब्रदर्स करामाजोव' के तुर्की अनुवादों में, युद्ध के उन्माद में तुर्की के बारे में कहे गये उनके शब्दों को हटा दिया जाता ।) बहरहाल, यूरोप के प्रति तुर्की लेखकों के द्वैत भाव को पामुक ने खुद इन शब्दों में व्यक्त किया है, "मेरे जैसे व्यक्ति के लिए मात्र भविष्य की एक दृष्टि के रूप में यूरोप दिलचस्प था – और एक खतरे के रूप में । .... एक भविष्य, लेकिन एक स्मृति कभी नहीं ।"

इसी प्रसंग में **ग़ालिब** (1797-1869) की चर्चा यहां बेमानी नहीं होगी । "घर में था क्या कि तिरा ग़म उसे गारत करता / वो जो रखते थे हम इक हसरत-ए-ता'मीर सो है" – ग़ालिब के इस शे'र के संदर्भ में **अली सरदार जाफरी** (1958) लिखते हैं, "....अंग्रेजों के लाये हुए विज्ञान ने उसे इतना प्रभावित किया कि जब ग़दर से कई वर्ष पहले **सर सैयद अहमद खाँ** ने **अब्ल फ़ज़्ल** की 'आईन-ए-अकबरी' का परिशोधन किया और ग़ालिब से उसकी समीक्षा लिखने की इच्छा प्रकट की तो ग़ालिब ने ग़ज़ल के रूपकों के सारे आवरण अलग रखकर स्पष्ट शब्दों में कह दिया कि आँखें खोलकर साहिबान-ए-इंगलिस्तान को देखों कि ये अपने कला-कौशल में अगलों से आगे बढ़ गए हैं । उन्होंने हवा और लहरों को बेकार कर के आग और धुएँ की शक्ति से अपनी नावें सागर में तैरा दी हैं । यह बिना मिज़राब के संगीत उत्पन्न कर रहे हैं और उनके जादू से शब्द चिड़ियों की तरह उड़ते हैं, हवा में आग लग जाती है और फिर बिना दीप के नगर आलोकित हो जाते हैं । इस विधान के आगे बाकी सारे विधान

जीर्ण हो चुके हैं । जब मोतियों का ख़ज़ाना सामने हो तो पुराने खलियानों से दाने चुनने की क्या आवश्यकता है । यह कहने के बाद ग़ालिब ने जो निष्कर्ष निकाला है वह महत्वपूर्ण है । आईन-ए-अकबरी के अच्छा होने में क्या संदेह है, लेकिन उदार सृष्टि को कृपण नहीं समझना चाहिए क्योंकि गुणों का अन्त नहीं है । खूब से खूबतर का क्रम जारी रहता है । इसलिए मृतकोपासना शुभ कार्य नहीं है ।"

इतने सारे विरोधाभासी यथार्थों को एक साथ एक ही समय ढोते इन मुल्कों के साहित्यकारों को भी अपनी अभिव्यक्ति के लिए नये शिल्प ढूंढ़ने पड़े । कोई अतियथार्थवाद के सहारे आत्मा की अतल गहराइयों में उतरने, 'चमत्कार के लिए सदैव तत्पर रहने' (**सुजेन सीजैर**) की कोशिश करता है । कोई इन असंख्य विरोधाभासों को जादुई यथार्थ की दुनिया में पकड़ने की जद्दोजहद करता है । तो कोई अपने चेतन प्रवाह में उसके साथ लय होकर उसे महसूस करना चाहता है । पामुक कहते हैं कि इस विकट स्थिति से निपटने में उन्हें 'बोर्हेसियन माइंडफ्रेम' से मदद मिली । '**बोर्हेस** और **कैल्विनो** ने मुझे मुक्त किया ।' (पामुक, वही)

भारत के आरंभिक विचारकों पर इंगलिश उपयोगितावाद और पिता-पुत्र (**जेम्स** तथा **जॉन स्टुअर्ट**) **मिल** का अच्छा-खासा प्रभाव था । उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध में बंगाल के कुछ बौद्धिक हल्कों में फ्रांसीसी पोजिटिविज्म (**ऑगस्ट कोम्टे**) भी लोकप्रिय हुआ – बावजूद उसके कि इंगलैंड के तत्कालीन प्रभावशाली चिन्तकों (**जॉन स्टुअर्ट मिल**, **हर्बर्ट स्पेंसर** और **टी एच हक्सले**) ने इसकी भर्त्सना की थी । ब्रिटिश इंडियन एसोसिएशन के प्रभावशाली जमींदार संरक्षक **जोगेन्द्रनाथ घोष** इन पोजिटिविस्ट्स के प्रमुख संगठक थे । इस दल से जुड़े एक प्रमुख व्यक्ति थे **बंकिम चन्द्र चटर्जी** – उन्होंने अपने उपन्यास 'देवी चौधुरानी' (1884), अपने निबन्ध 'चित्तशुद्धि' (1885) और अपनी एक अन्य रचना 'धर्मतत्त्व' (1888) में कोम्टे को उद्धृत भी किया था । भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के दूसरे अध्यक्ष **उमेश चन्द्र बनर्जी** भी कुछ समय तक इनलोगों के साथ जुड़े । इस आन्दोलन के पिता-तुल्य **रिचर्ड कांग्रीव** ने 1857 की अपनी एक रचना 'इंडिया' में भारत में ब्रिटिश आधिपत्य अविलम्ब समाप्त करने का प्रस्ताव किया था । बहरहाल, ये पोजिटिविस्ट्स सामाजिक मामलों में अत्यन्त रूढ़िवादी थे । जोगेन्द्रनाथ घोष के अनुसार, ब्राह्मणों तथा अभिजातों की प्रभुता और उनके प्रति श्रद्धा समाप्त होने, और हमारे लोकप्रिय नेताओं द्वारा समानता, प्रतिद्वंद्विता तथा परिवर्तन का प्रचार करने के कारण हमारे समाज की 'शानदार एकजुटता' तेजी से नष्ट हो रही है । 1886 ई. में कोलकाता से प्रकाशित अपनी रचना 'दि पोलिटिकल साइड ऑफ ब्राह्मणिज्म' में वे स्थिरता तथा कुलीन-ब्राह्मण नेतृत्व बरकरार रखने पर जोर देते हैं, और समाज के सबसे निचले पायदान पर स्थित मूक लोगों को नियंत्रित करने के एकमात्र उपाय के रूप में पश्चिमीकरण के हिमायती कांग्रेसी नेताओं से संसदीय रास्ते का परित्याग करने तथा पुनरुत्थानवादियों से सहयोग करने का आह्वान करते हैं । (वैसे, कोम्टे के पोजिटिविज्म में जनतांत्रिक संस्थाओं के प्रति अभिजातवर्गीय बेरुखी अन्तर्निहित थी ।) (सब्यसाची भट्टाचार्य, 'पोजिटिविज्म इन दि नाइनटींथ सेंचुरी बेंगाल', 'इंडियन सोसाइटी : हिस्टोरिकल प्रोबिंग्स', नई दिल्ली, 1974) जो लोग उन्हीं दिनों ज्योतिबा फूले के अंग्रेजी राज के पक्ष में दिए गए बयानों को उद्धृत करते हैं, उन्हें भारतीय रूढ़िवादियों के उपर्युक्त बयानों पर भी अवश्य गौर करना चाहिए ।

बाद के दौर में भारत के बौद्धिक समुदाय पर फेबियन समाजवाद, अराकतावाद, मार्क्सवाद-लेनिनवाद, सामाजिक-जनवाद और नाजीवाद का भी प्रभाव परिलक्षित हुआ । औपनिवेशिक स्थिति में भारत की चिन्तन परम्परा पर भी गंभीर मंथन हुआ । इस संदर्भ में जिन दो व्यक्तियों ने बौद्धिक जगत पर सबसे गंभीर असर डाला, वे थे **स्वामी विवेकानन्द** और **महर्षि अरविन्द** । विभिन्न पंथों तथा जातियों में चले सुधार आन्दोलनों और वैचारिक हलचलों का ब्यौरा देना यहां संभव नहीं ।

1978 ई. में **देंग श्याओफिंग** के आर्थिक सुधारों के बाद, चीन में भी राष्ट्रीय और सांस्कृतिक अध्ययनों के एक नये अध्याय का सूत्रपात हुआ । इन राष्ट्रीय अध्ययनों (गुओश्यू) में 'पश्चिम' का प्रश्न एक बार फिर चीन के बौद्धिक हल्कों में जोर-शोर से उठा । 1988 में एक हिट टेलीविजन धारावाहिक **हे शांग** (रिवर एलेजी) का प्रसारण किया गया । इसमें पीली नदी का बतौर रूपक इस्तेमाल करते हुए परम्परागत चीनी सभ्यता के पिछड़ेपन और उसकी

बर्बरता का मार्मिक चित्रण किया गया था । वहीं दूसरी ओर, पश्चिमी सभ्यता के 'नीले सागर' की स्तुति की गई, जिसकी मुक्तिदायिनी लहरों पर अब चीनी लोक गणराज्य की नैया को सवार होना था । जाहिर है, इस सीरियल की आलोचना भी हुई (और इसका संबंध चीनी कम्युनिस्ट पार्टी के तत्कालीन महासचिव **झाओ जियांग** से जोड़ा गया । 4 जून, 1989 की घटना के बाद झाओ को पदमुक्त कर नजरबंद कर दिया गया था) ।

बहरहाल, पश्चिमी देशों से प्रगाढ़ होते रिश्तों की पृष्ठभूमि में चीन के शीर्ष नेता अब पश्चिम की उन्नत संस्कृति के साथ खुद को जोड़ने और उसे बतौर अपना प्रेरणास्रोत बताने में पीछे नहीं रहे । पूर्व राष्ट्रपति **जियांग जेमिन** ने बताया कि तीस और चालीस के दशक में अपनी युवावस्था के दिनों शंघाई में जिन तीन फिल्मों ने उन पर गहरी छाप छोड़ी और जिन्हें वे आज भी पसंद करते, वे थे – 'गोन विद द विंड', 'ग्रीन बैंक ऑन अ स्प्रिंग मॉर्निंग' (एक ब्रॉडवे म्युजिकल), और (**चोपिन** पर आधारित) 'अ सांग टू रिमेम्बर' । (चाओ-हुओ वांग, संपादक, 'वन चाइना, मेनी पाथ्स', न्यूयार्क, 2003)

अस्सी के दशक के मध्य में **फ्रेडरिक जेमसन** के सौजन्य से चीन में उत्तर-आधुनिकता का प्रवेश हुआ और बीजिङ विश्वविद्यालय के कुछ तेज-तर्रार युवा स्नातक इसके मुरीद भी हुए । एक दशक बाद, जब **झाओ यिवू, जेन श्याओमिंग**, आदि ने इसे चीनी परिस्थितियों में लागू करने की कोशिश की, तो शीघ्र ही उनका इससे मोहभंग भी हो गया । जेमसन उत्तर-आधुनिकता को 'प्रौढ़ पूंजीवाद के सांस्कृतिक तर्क' के रूप में परिभाषित करते थे । 'मास कल्चर' की उनकी तीखी आलोचना इन चीनी बुद्धिजीवियों को रास नहीं आई । चीन में पूंजीवाद अभी परवान ही चढ़ रहा था और 'सांस्कृतिक क्रान्ति के काले दिनों' के बाद वे 'मास कल्चर' के उत्साही समर्थक थे क्योंकि इसमें वे 'लोकप्रिय स्वतंत्रता' का नया अवसर देख रहे थे ।

बीजिङ विश्वविद्यालय में चीनी साहित्य के पूर्व प्रोफेसर **कियान लीकुन** ने पश्चिम के प्रति द्वैत भाव को हेमलेट और किहोते के बिम्बों में प्रकट करते हुए चीनी बुद्धिजीवियों द्वारा 'किहोते की भावना से हेमलेट की चुनौती' स्वीकार करने पर बल दिया । शंघाई विश्वविद्यालय में सांस्कृतिक अध्ययन विभाग तथा ईस्ट चाइना नॉर्मल युनिवर्सिटी में चीनी साहित्य के प्रोफेसर **वांग श्याओमिंग** ने 'सांस्कृतिक अध्ययनों के लिए एक घोषणापत्र' में चीन की विषम स्थिति का विवरण देते हुए लिखा है, 'फिलहाल चीन अनेक पश्चिमी तकनीकों, प्रबन्धकीय व्यवहारों, सांस्कृतिक उत्पादों और मूल्यों का आयात कर रहा है, लेकिन वह कोरिया या जापान की तरह पश्चिमी शैली का आधुनिक समाज बनने की खातिर अपनी व्यवस्थाओं में आसानी से परिवर्तन कर पाएगा, इसमें मुझे संदेह है । .... चीन किसी नियंत्रण को चुनौती देते एक महाकाय प्राणी की तरह है, बीसवीं सदी के इतिहास में सामाजिक परिवर्तन का सबसे कठिन और अभूतपूर्व विषय है ।' (चाओहुआ वांग, वही)

बहरहाल, यूरोपीय (और पश्चिमी) वैचारिकी एवं गैर-पश्चिमी वैचारिकी के विस्तार में जाना यहां संभव नहीं, तथापि इन दोनों धाराओं के बीच एक महत्वपूर्ण फर्क को यहां रेखांकित किया जा सकता है । यह फर्क मूलतः **विचार-दृष्टि** का है ।

दो दृष्टियाँ

एक दृष्टि है जो चीजों को, परिघटनाओं को **निरपेक्ष रूप से** एक दूसरे के विरुद्ध खड़ा कर देखती है, 'बनाम' की दृष्टि से चीजों को परखती है । ईश्वर बनाम शैतान, अच्छा बनाम बुरा, सही बनाम गलत, सफेद बनाम स्याह, श्रेष्ठ बनाम निम्न, सभ्य बनाम बर्बर, हम बनाम वे, आदि, आदि । फलतः यह विचार पद्धति स्याह को समाप्त कर सफेद को, गलत का विनाश कर सही को, निम्न को निष्कासित कर श्रेष्ठ को, बर्बर का उन्मूलन कर सभ्य को ..... प्रतिष्ठित करने का अभियान चलाती है ।

कहा जाता है कि विद्युतीय तथा कम्प्यूटर जैसे उपकरण, मानव मस्तिष्क के न्यूरॉन्स में सूचना-सम्प्रेषण की विद्युतीय क्रिया इसी द्विचर (बाइनरी) आधार पर काम करती है – ऑन-ऑफ, शून्य-एक । सृष्टि के विभिन्न अस्तित्व रूपों को मनुष्य इसी बाइनरी आधार पर ग्रहण करता है ।

यह दृष्टि मानव जाति के उद्भव से तथा औजार निर्माण से जुड़ा रहा है । इसने इतिहास में अत्यन्त महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है । आदिम चिन्तन में भी हम युग्म प्रतीकों तथा द्विचर विरोधों (हां-ना, काला-सफेद, आदि) का साक्षात् करते हैं । मानवसमेत अन्य प्राणियों के शरीर में, और औजार निर्माण में, हम दक्षिण तथा वामपक्षीय सममिति, उर्ध्व-अधर, अग्र-पश्च, मध्य-छोर, आदि सामान्य प्रकार के द्विचर विरोधों का अवलोकन करते हैं । बहरहाल, बुनियादी विरोधों के रूप में ऐसे वर्गीकरण सिद्धान्तों का सूत्रीकरण 1896 ई. में इंगलैंड में **आर डेन्नेट** द्वारा और 1902 ई. में फ्रांस में **ई दुयुर्कहाइम** तथा **एम मास्स** द्वारा किया गया । विरोधों के अनन्य महत्व के प्रदर्शन के इस संदर्भ में, **के लेवी-स्ट्रॉस** का भी नाम लिया जा सकता है (1958) । (**वलेरी अलेक्सेयेव**, 'मानव जाति की उत्पत्ति', मास्को, 1987)

निरपेक्ष रूप से श्रेष्ठ और निम्न की अवधारणा के पक्ष में कुछ मनोविश्लेषकों का मानना है कि मानव-शिशु चूंकि अपेक्षाकृत लम्बे समय तक अपने पालन-पोषण के लिए बड़ों पर आश्रित होता है, इसलिए शैशवावस्था में ही शिशु-मस्तिष्क में बड़े (पिता) **निरपेक्ष रूप से** 'श्रेष्ठ' तथा 'सबल' के रूप में प्रतिष्ठित हो जाते हैं और वयस्क हो जाने के बावजूद अवचेतन में मौजूद यही श्रेणीकरण (द्विविभाजन) अन्य क्षेत्रों में भी अभिव्यक्ति पाता है ।

इसी दृष्टि के साथ एक और दृष्टि भी जोड़ दीजिए । इसके अनुसार, सृष्टि और उसके सारे अस्तित्व रूप कुछ निश्चित नियमों से संचालित होते हैं, इन नियमों को **पूरी तरह** जाना जा सकता है और इन नियमों को जान लेने के बाद सृष्टि का सारा रहस्य स्वतः समाप्त हो जाएगा । इसी दृष्टि के आधार पर कुछ वैज्ञानिक 'थ्योरी ऑफ एवरीथिंग' विकसित करने में जुटे हैं ।

इस जीवन-दृष्टि पर आधारित कई वैचारिक शाखाएँ, सम्प्रदाय और स्कूल मौजूद हैं । जीवन-दृष्टि एक होने पर भी अनेक विचारशाखाओं की मौजूदगी और उनके बीच निरन्तर चलनेवाले विवादों का करण यह है कि क्या सफेद है और क्या स्याह, क्या सही है और क्या गलत, क्या श्रेष्ठ है और क्या निम्न, क्या सभ्य है और क्या बर्बर, क्या पश्चिम है और क्या पूरब .... इन प्रश्नों पर इनमें मतैक्य नहीं है (हो भी नहीं सकता) । इसी तरह, सृष्टि और मानव समाज को संचालित करनेवाला कौन-सा नियम अथवा नियमों का समूह सही या गलत है, इस पर इनमें सहमति नहीं है ।

यह दृष्टि हर विचार को विभिन्न सांचों पर बांट कर रख देती है – भाववादी, भौतिकवादी, द्वंद्ववादी, अधिभूतवादी, प्रत्यक्षवादी, सारसंग्रहवादी, तार्किक प्रत्यक्षवादी, आदि । जो विचार इन सांचों में नहीं समा पाते, उन्हें वे तोड़कर अलग-अलग सांचों में डाल देते हैं । बुद्ध के विचार फलां प्रतिशत भौतिकवादी और फलां प्रतिशत भाववादी । कबीर थोड़े भैतिकवादी, थोड़े अद्वैतवादी । उनके दोहे की एक पंक्ति भौतिकवादी, दूसरी पंक्ति रहस्यवादी-भाववादी । आदि, आदि । इस तरह, इस दृष्टि के विचारक मानवजाति के सभी पूर्व विचारकों और उनके विचारों के प्रति न्यायाधीश का रुख़ अख़्तियार करते हैं और उन पर अपने फैसले सुनाते हैं ।

दूसरी दृष्टि चीजों और परिघटनाओं को उनके दिक्-काल **सापेक्ष** परिप्रेक्ष्य में देखती है । किसी भी चीज अथवा परिघटना को **अनन्त** (सापेक्ष) **परिप्रेक्ष्यों** में देखा जा सकता है । **कोई भी पर्यवेक्षण अन्तिम नहीं हो सकता । देखना कभी खत्म नहीं होता ।** एक सापेक्ष परिप्रेक्ष्य में जो महान है, वही दूसरे परिप्रेक्ष्य में अधम हो सकता है, सफेद भिन्न परिप्रेक्ष्य में स्याह है, श्रेष्ठ निम्न है, सभ्य बर्बर और पूरब पश्चिम हो सकता है । (जैसा कि 'स्टार वार्स' में **एनाकिन स्काइवाकर** के इस प्रश्न कि 'या तो तुम मेरे साथ हो या फिर मेरे दुश्मन हो' के जवाब में **जेदाइ ओबे-वान केनोबी** कहता है, 'निरपेक्षों में सिर्फ सिथ (तामसिक लोग) ही विश्वास रखते हैं ।')

अतः यह दृष्टि विभिन्न दिक्-काल सापेक्ष परिप्रेक्ष्यों को समझने और उन्हें उचित सम्मान देने पर जोर देती है । दो भिन्न परिप्रेक्ष्यों के बीच का संबंध सही और गलत का संबंध नहीं है, उन्हें बनाम के रूप में पेश नहीं किया जा सकता । एक ही समय एक साथ कई (कहिए अनन्त) सत्य मौजूद रहते हैं । संघर्ष और टकराव की स्थिति तब पैदा होती है जब एक सापेक्ष सत्य **एकमात्र सत्य** होने का दावा करते हुए अन्य सारे सापेक्ष सत्यों का सफाया करने लगता है । हर सत्य का अपना समय है, अपना स्थान है, अपनी उम्र है । समस्या अपनी उम्र से परे जीने की लालसा है ।

इस समावेशी जीवन-दृष्टि में 'एकमात्र' और 'अन्तिम' जैसे शब्दों का कोई स्थान नहीं । इसमें 'कोई विकल्प नहीं' जैसे प्रस्ताव नहीं होते । चूंकि सृष्टि और उसके अस्तित्व-रूपों के अनन्त आयाम हैं, इसीलिए विकल्पों का भी कोई अन्त नहीं । जब आपको लगता है कि सारे दरवाजे बन्द हो चुके हैं, तब यह दृष्टि आप में विकल्पों के अनेक झरोखे होने का विश्वास जगाती है और उन्हें ढूंढ़ने तथा साकार करने का साहस पैदा करती है ।

यह दृष्टि हमें किसी व्यक्ति, समाज और बाह्य जगत की किसी एकआयामी व्याख्या से रोकती है और हमारे मूल्यांकनों को निन्दा-प्रशंसा की सफेद-स्याह दुनिया से मुक्त कर देती है ।

इस दृष्टि के अनुसार, एक बंद दुनिया के ही कुछ निश्चित नियम अथवा नियमों के समूह हो सकते हैं । एक खुली दुनिया को, अनन्त प्रवहमान सृष्टि को नियमों के कुछ निश्चित समूहों में कैसे सीमित किया जा सकता है ? नियम हैं, और उनके व्यावहारिक उपयोग भी हैं, लेकिन वे **एकमात्र** नियम नहीं हैं । न्यूटन-पूर्व तथा न्यूटन की त्रिआयामी दुनिया से आइंस्टीन की (दिक्-काल आयाम को जोड़ते हुए) चतुर्आयामी दुनिया की खोज अब स्ट्रिंग थ्योरी के अन्तर्गत षट्आयामी दुनिया और नवीनतम एम-थ्योरी में ग्यारह-आयामी दुनिया तक जा पहुंची है – लेकिन जो सृष्टि अनन्त है, उसके आयाम भी अनन्त होंगे और उन्हें ग्यारह आयामों में कैसे बांधा जा सकता है ? **इस दृष्टि में अनवरत् अन्वेषण का आनन्द है, न कि अन्तिम नियम पा लेने की अहमन्यता ।**

यह दृष्टि भी मानव मन में कमोबेश मानव जाति के जन्मकाल से मौजूद है और उसका भी प्रागैतिहासिक मानव-जनों के उत्पादक कार्यकलाप से, उनके औजार-निर्माण से अंतरंग रिश्ता है । अमेरिकी पुरातत्वविद् **टी विन्न** ने ओल्डुवाई दर्रे से प्राप्त (सोलह लाख से साढ़े ग्यारह लाख वर्ष पुरानी) पुरातात्विक सामग्री की तुलना (तीन लाख तीस हजार से एक लाख सत्तर हजार साल पुरानी) इसीमिल से प्राप्त सामग्रियों से की । करीब दस लाख वर्ष से भी ज्यादा लम्बे काल खण्ड के दौरान औजार-निर्माण में हुए परिवर्तनों और साथ ही उसमें प्रतिबिम्बित मानसिक विकास-क्रम का अध्ययन कर उन्होंने मानस के चार सामान्य, किन्तु बुनियादी संक्रियात्मक गुणों का निरूपण किया, जिसका प्रतिबिम्ब हस्तकुठार तथा खंडकों जैसे पत्थर के औजारों में देखा जा सकता है । ये गुण हैं : **क.** पूर्ण से अंश के और अंश से पूर्ण के संबंध की समझ ; **ख.** अंशों के सहसंबंध का ज्ञान ; **ग.** दिक्-काल संबंधी चेतना ; और **घ.** वस्तुओं अथवा संक्रियाओं की एकरूपता का बोध । (वलेरी अलेक्सेयेव, वही) (प्रसंगवश, हस्तकुठार तथा खंडकों के निर्माण में हम मानस के जिन बुनियादी संक्रियात्मक गुणों का साक्षात् करते हैं, क्या वही मानवजाति के हजारों वर्षों के इतिहास में तत्वशास्त्रीय विमर्श के प्रमुख विषय नहीं रहे हैं ?)

मस्तिष्क विज्ञान भी अब न्यूरॉन्स की दुनिया से आगे (न्यूरॉन्स को जोड़नेवाले) साइनेप्सेज और साइनेप्टिक क्लेफ्ट्स की दुनिया में जा पहुंचा है । चेतना के उत्स की खोज में लगे वैज्ञानिक अब बताते हैं कि इन्हीं साइनेप्टिक क्लेफ्ट्स के माइक्रोट्युब्यूल्स (सूक्ष्म-नलिकाओं) में 'बोस-आइंस्टीन कंडेन्सेशन' की, क्वांटम कोहेरेंस की परिघटना घटित होती है – बड़ी संख्या में सूक्ष्म कण एकल क्वांटम अवस्था में सामूहिक रूप से भागीदार होते हैं । मस्तिष्क की बुनियादी संक्रियाओं को अब इसी परिघटना से जोड़ा जा रहा है । (**रोजर पेनरोज**, 'शैडोज ऑफ दि माइण्ड', लंदन, 1995) यह न्यूरॉन्स की 'ऑन-ऑफ' की दुनिया नहीं, माइक्रोट्युब्यूल्स की क्वांटम सहभागिता की दुनिया है – विरोधों का द्वंद्व नहीं, भिन्नताओं का एकत्व ।

इस दृष्टि के अनुसार, हर विचारधारा के अतिवादी दावों और सार्विक होने की जिद को दरकिनार कर दिया जाए तो उनमें अन्तर्निहित सापेक्ष सत्यों की शिनाख्त की जा सकती है । पहली दृष्टि पर आधारित विभिन्न विचारशाखाएँ आपस में भले लड़ती रहें, यह दृष्टि तो पहली दृष्टि में भी अन्तर्निहित दिक्-काल सापेक्ष सत्य को स्वीकार करती है और इतिहास में उसके यथोचित स्थान का सम्मान करती है ।

स्वसिद्धान्तव्यवस्थासु द्वैतिनो निश्चिता दृढ़म् । परस्परं विरुध्यन्ते तैरयं न विरुध्यते ।। (माण्डूक्य उपनिषद, गौड़पाद की कारिका, III/17)

हर व्यक्ति और आन्दोलन दिक्-काल सापेक्ष स्थितियों के अनुरूप भौतिकवादी, प्रत्यक्षवादी, परिणामवादी या भाववादी होता है । उसी तरह, व्यक्ति और समाज में हर समय एक ही साथ पूर्व परम्परागत, परम्परागत, आधुनिक और उत्तर-आधुनिक प्रवृत्तियां होती हैं, भले ही स्थितियों के अनुरूप उनका अनुपात अलग-अलग हो । समुचित संदर्भों से हटकर निरपेक्ष रूप में हम वैचारिक सांचों में बांटकर इन प्रवृत्तियों का मूल्यांकन नहीं कर सकते ।

पहली दृष्टि की स्वाभाविक परिणति हिंसा के महिमामंडन में होती है, जबकि दूसरी दृष्टि की नैतिक निष्पत्ति अहिंसा में । (जैनियों की अहिंसा का नैतिक संदर्भ अनिवार्यतः उनकी अनेकान्तवादी दृष्टि का परिणाम है ।)

मानव जाति के सभी समाजों में ये दोनों दृष्टियाँ मौजूद रही हैं । हां, अलग-अलग स्थितियों में जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में दोनों दृष्टियों का अनुपात एक समान नहीं रहा है । किसी खास काल में किसी समाज अथवा जीवन के किसी क्षेत्र में एक दृष्टि प्रभावशाली स्थिति में हो सकती है, तो दूसरे काल में दूसरी दृष्टि ।

यूरोपीय आधुनिकता में पहली दृष्टि हावी रही है । वहीं क्वांटम विज्ञान में, यूरोप के उत्तर-आधुनिक विमर्श में दूसरी दृष्टि का पक्षपोषण सहज ही रेखांकित किया जा सकता है । लेकिन, जाहिर है, यह दूसरी दृष्टि न तो क्वांटम विज्ञान की, न ही उत्तर-आधुनिक विमर्श की खोज है । बहरहाल, उपनिवेशवाद और पश्चिमी देशों के प्रभुत्व से, यूरोप की चुनौती से जूझते अनेक गैर-यूरोपीय विचारकों का रुझान दूसरी दृष्टि की ओर रहा है । विस्तार में जाने की जगह हम बस कुछ उद्धरणों तक ही खुद को सीमित रखेंगे ।

एमी सीजैर : (फ्रेंच कम्युनिस्ट पार्टी के महासचिव **मॉरिस थोरेज** के नाम पत्र) “मैं किसी निपट विशिष्टतावाद की दीवार में खुद को चिनवाने नहीं जा रहा हूँ । न ही मैं किसी हाड़-मांस विहीन सार्विकता में गुम होना चाहता हूँ । .... सार्विकता का मेरा विचार भिन्न है । यह तमाम विशिष्टताओं से युक्त सार्विकता है, यह तमाम विशिष्टताओं का और गहन होना है और उन सबका सह-अस्तित्व है ।”

फ्रांज फैनन : “इतिहास स्पष्ट रूप से यह सिखाता है कि उपनिवेशवाद के खिलाफ लड़ाई राष्ट्रवाद के सीधे रास्ते पर नहीं चलती । .... रूढ़िवादी राष्ट्रवाद साम्राज्यवाद द्वारा गढ़ी गई लीक का ही अनुसरण करता है । .... साम्राज्यवाद से विरासत में प्राप्त सोपान का स्थान गतिशील सम्बन्धों की नई व्यवस्था को लेना होगा ।”

कियान लीकुन : (अपने आलेख रिफ्युजिंग टू फॉरगेट में **लु शुन**, 1881-1936, की रचना पोस्टस्क्रिप्ट टू ग्रेव का हवाला देते हुए) लु शुन की मान्यता थी कि विकास-क्रम की श्रृंखला में सब कुछ मध्यवर्ती है । .... कोई भी पूर्ण अथवा विशुद्ध संस्कृति हमेशा क्षितिज के परे ही रहेगी । वह एक ऐसा आदर्श है जिसका अनुसरण तो किया जाना चाहिए, लेकिन जिसकी प्राप्ति असंभव है । उसके अनुसरण से ही बड़ी सांस्कृतिक उपलब्धियों की प्रेरणा मिलती है । उन्होंने भी एक बहु-संस्कृतिवाले विश्व की प्रत्याशा की थी ।

वाङ श्याओमिंग : “(चीन की) जटिल स्थितियों की पृष्ठभूमि में चीजों को परस्पर विरोधी श्रेणियों (डायकोटोमीज) – परम्परागत/आधुनिक, खुला/बन्द, रूढ़िवादी/सुधारवादी, बाजार/योजना, समाजवाद/पूंजीवाद, कम्युनिस्ट/कम्युनिस्ट-विरोधी – में बांटकर सोचने का बुद्धिजीवियों का असाधारण हठ बड़ा ही सतही लगता है ।

.... सांस्कृतिक अध्ययनों को आधुनिक बनाने के नाम पर, जीवन के अलग-अलग सांचों में उन्हें कदापि कैद नहीं होने देना होगा । न ही अधिकाधिक जटिल होती जा रही शैक्षणिक-प्रशासनिक व्यवस्थाओं में कार्यशील ज्ञान के नियमन के जाल में फंसना होगा । .... चीन में सांस्कृतिक अध्ययनों को न प्रचलित ज्ञान-शाखाओं की सीमाओं का पालन करना चाहिए, न ही खुद एक नई ज्ञान-शाखा बनना चाहिए । ...."

भारतीय संदर्भ

भारतीय वैचारिक परम्परा में दूसरी दृष्टि की प्रभावशाली उपस्थिति देखी जा सकती है । ऋग्वेद और उपनिषदों से लेकर जैन, बौद्ध, तांत्रिक मतों, सिद्ध-संतों के दोहों में, सिख गुरुओं की वाणी में, भक्तिकालीन सूफी-संत-फकीरों के दोहों तथा कवित्तों में इस दृष्टि का प्रवर्तन अनेक रूपों में हुआ है । इस दृष्टि का चिन्तकों-विचारकों की दुनिया से आगे जाकर आम लोगों तक विस्तार हुआ । विभिन्न जनों, जातियों, समुदायों, भाषाओं-बोलियों, पंथों-सम्प्रदायों, पर्व-त्योहारों, खानपान, पहनावों, रीति-रिवाजों वाले हमारे देश में **यह दूसरी दृष्टि हमारे अस्तित्व की आवश्यक शर्त है, हमारा ऐतिहासिक अनुभव है ।**

हमारा यह ऐतिहासिक अनुभव हमारी महागाथाओं (रामायण/महाभारत) में भी काफी प्रभावशाली रूप में अभिव्यक्त हुआ है । वनवास-अज्ञातवास जैसे प्रसंगों को इस दृष्टिकोण से देखा जा सकता है । वनवास के दौरान ही प्रमुख चरित-नायक अनेक जनों के सम्पर्क में आते हैं, उनके साथ बन्धुत्व कायम करते हैं, उनके बीच उनके होकर रहते हैं, उनकी मुसीबतों में उनकी मदद करते हैं, उनके खानपान, रीति-रिवाज, उनकी वेश-भूषा, आदि से परिचित होते हैं, उनका सम्मान करते हैं, और यहां तक कि, उनके साथ रक्त-सम्बन्ध कायम करते हैं । भारत के करीब-करीब सभी अंचलों में उनकी कथा के सूत्र मिलते हैं । उन क्षेत्रों और जनों की स्मृति में सम्बन्धित क्षेत्रों में अदा की जानेवाली उन जनों की निर्णायक भूमिका सुरक्षित है । उन क्षेत्रों के लोगों और जनों को लगता है कि उनकी भूमिका के बिना इन चरित-नायकों की कथा आगे बढ़ती ही नहीं ।

इस प्रकार, वनवास-अज्ञातवास भारतीय समाज का नेतृत्व करने, और शासन करने योग्य क्षमता हासिल करने का प्रशिक्षण-काल साबित होता है । वनवास के इस दीर्घ अनुभव के बाद ही वे राजकाज संभालने योग्य होते हैं । (कुछ भिन्न संदर्भ में, स्वतंत्रता आन्दोलन का नेतृत्व ग्रहण करने से पूर्व महात्मा गांधी द्वारा ट्रेन के साधारण डिब्बे में की गई भारत-यात्रा को इस परम्परा में देख सकते हैं ।)

भारत जैसी विविधता वाले देश में स्वतंत्रता आन्दोलन का नेतृत्व दूसरी दृष्टि अपनाकर ही किया जा सकता था और इसका मतलब था द्विचर (बाइनरी) विरोधों पर आधारित यूरोपीय आधुनिकता का परित्याग । इस आधुनिकता का एक चरित्र-लक्षण था हिंसात्मक क्रान्ति के जरिये सामाजिक-राजनीतिक परिवर्तन । वैसे सामंती कृषि युग में भी सत्ता परिवर्तन प्रायः हिंसात्मक उपायों से ही हासिल किया जाता था, तथापि यूरोप की पूंजीवादी क्रान्तियों के दौरान हिंसात्मक जनक्रान्ति का पूरा शास्त्र गढ़ा गया । अगर आप जनतंत्रवादी हैं तो शस्त्र उठाइये और राजतंत्रवादियों का सफाया कीजिए । फलतः आधुनिक राजनीतिक-शास्त्र में सैनिक शब्दावलियों की भरमार हो गई । रूसो, वाल्तेयर, मैकियावेली, हॉब्स, आदि के साथ-साथ **क्लाउजेवित्ज** भी राजनीतिक विमर्श में प्रायः उद्धृत किये जाने लगे ।

स्वभावतः द्विचर विरोधों पर आधारित यूरोपीय आधुनिकता के परित्याग का मतलब था हिंसात्मक क्रान्ति का परित्याग । भारत में इस परिघटना ने महात्मा गांधी के नेतृत्व में मूर्तिमान रूप ग्रहण किया । उन्होंने विचार और व्यवहार के लगभग हर क्षेत्र में (चिंतन, कार्यशैली, भाषा, वेश-भूषा, आदि में) इस आधुनिकता का विकल्प प्रस्तुत करने की कोशिश की और काफी हद तक सफल भी हुए । पहले वर्णित भारतीय विचार-परम्परा ने उनकी इस कोशिश को बल प्रदान किया और वे यूरोपीय आधुनिकता के समानान्तर भारतीयता के प्रतीक-पुरुष बन गये । मानव समुदाय के एक रूप के बतौर राष्ट्र की जो अवधारणा यूरोपीय आधुनिकता ने प्रस्तुत की थी, भारत उस अर्थ में राष्ट्र नहीं था, न ही महात्मा गांधी उस अर्थ में एक राष्ट्रवादी नेता । उन्हें परिभाषित करना यूरोप

के लिए एक चुनौती थी – एक आध्यात्मिक संत ? चतुर राजनीतिज्ञ ? हाफ-नेकड फकीर ? धूर्त पाखण्डी ? इसी तरह समुदाय के रूप में भारतीय समाज भी यूरोपीय आधुनिकता के लिए चुनौती बना रहा ।

हिंसात्मक आन्दोलन के साथ प्रायः कम्युनिस्टों का नाता जोड़ा जाता है, लेकिन कम्युनिस्ट खुद हिंसात्मक क्रांति की प्रेरणा बुर्जुआ क्रांतियों से पाते थे । 1879 में 'दि शिकागो ट्रिब्यून' के संवाददाता के इसी आशय के प्रश्न का जवाब देते हुए कार्ल मार्क्स ने कहा था, "कोई महान आन्दोलन बिना रक्तपात के कभी संपन्न नहीं हुआ है । अमेरिका की स्वतंत्रता रक्तपात से हासिल की गई । नेपोलियन ने एक खूनी प्रक्रिया के जरिये ही फ्रांस पर अपना कब्जा जमाया, और वह उसी तरीके से उखाड़ भी फेंका गया । इटली, इंगलैंड, जर्मनी, और प्रत्येक देश इस बात का प्रमाण मुहैय्या करता है । जहां तक हत्याओं की बात है, यह कोई नई बात नहीं है । मुझे शायद ही कुछ कहने की जरूरत है । **ओरसिनी** ने **नेपोलियन** की हत्या करने की कोशिश की । अन्य किसी की तुलना में राजाओं ने सबसे अधिक हत्याएँ की हैं, **जेसुइट्स** ने हत्याएँ कीं, **क्रॉमवेल** के समय **प्युरिटन्स** ने लोगों को मौत के घाट उतारा । इन सब कार्यों को तब अंजाम दिया गया अथवा देने की कोशिश की गई, जब समाजवाद का पता-ठिकाना तक नहीं था । ...." ('दि शिकागो ट्रिब्यून' में पहली बार प्रकाशित, सं. 6, 5 जनवरी,1879 ; कार्ल मार्क्स - फ्रेडरिक एंगेल्स कलेक्टेड वर्क्स, खण्ड 24, मास्को, 1989) इस तरह हिंसात्मक क्रान्ति का पक्षपोषण कोई नई बात नहीं थी, यह तो यूरोपीय आधुनिकता का अनिवार्य तत्व था और कम्युनिस्ट खुद इसी आधुनिकता की उपज थे । भारत में भी इस आधुनिकता से प्रेरित समूह अथवा दल ('इतिहास में ऐसा होता आया है', की तर्ज पर) हिंसात्मक क्रान्ति का पक्षपोषण करते थे ।

नई बात थी अहिंसात्मक आन्दोलन । लेकिन हिंसात्मक क्रान्ति की शब्दावली और कार्यशैली के साथ अहिंसात्मक आन्दोलन का संचालन नहीं किया जा सकता था । इसीलिए महात्मा गांधी ने नई शब्दावली और नई कार्यशैली गढ़ी – सत्याग्रह, सविनय अवज्ञा, रचनात्मक कार्यक्रमों की एक श्रृंखला, आश्रमों का जाल । इनमें से लगभग प्रत्येक मामले में वे खुद अनेक प्रयोगों से गुजरे, क्योंकि उनके पास कोई पूर्व उदाहरण मौजूद नहीं था । अपनी विनम्रता में उन्होंने भले ही इन कार्यों के लिए **थॉरो, रस्किन** और **टॉल्सटॉय** का प्रभाव स्वीकार किया हो, लेकिन सच्चाई यह थी कि **एक विराट अहिंसात्मक राजनीतिक आन्दोलन में करोड़ों लोगों की गोलबन्दी इतिहास में अनूठी घटना थी ।** (प्रसंगवश, उपर्युक्त तीनो चिन्तक भी यूरोपीय आधुनिकता का विकल्प ढूंढ़ने अथवा प्रस्तुत करने के प्रयासों के लिए जाने जाते थे ।) गांधी के बाद हिंसात्मक क्रान्ति के हर पैरोकार को बचाव की मुद्रा अपनानी पड़ी । हिंसात्मक आन्दोलन की कोशिशें समाप्त नहीं हुईं, लेकिन अब एक नई अहिंसक आन्दोलनकारी धारा ने व्यापक जनगोलबन्दी के माध्यम से उसे पीछे जरूर धकेल दिया था । चूंकि यह एक नया प्रयोग था, इसलिए आरंभिक दौर में इसे स्थापित करने के लिए उन्हें अपेक्षाकृत कट्टर रवैया अपनाना पड़ा और कभी-कभी कुछ कठोर फैसले भी लेने पड़े । राजनीतिक प्रतिद्वंद्विता के बीच नये विचार को स्थापित करने के लिए ऐसा करना जरूरी होता है । अहिंसा के इस प्रयोग के कारण ही भारतीय स्वतंत्रता आन्दोलन में वे विभिन्न क्षेत्रों के विभिन्न विचारों, पंथों, सम्प्रदायों तथा अन्य समुदायों के लोगों को एकजुट करने में कामयाब हुए ।

भारत के लिए इसका खास महत्व था । अनेक विविधताओं से भरे-पूरे तथा विभिन्न क्षेत्रों के असमान विकास के कारण भारत में सशस्त्र आन्दोलन का कोई प्रयास कुछेक क्षेत्रों तक सिमट कर रह जाने या फिर दीर्घकालीन गृहयुद्ध में अधःपतित हो जाने को बाध्य था – यह औपनिवेशिक शासकों को भी भारत में जमे रहने का सुनहरा मौका प्रदान कर देता । 1857 के प्रथम स्वातंत्र्य-युद्ध की भी यह एक महत्वपूर्ण सीख थी और बाद में चले सशस्त्र आन्दोलनों की परिणति भी इसे पुष्ट करती है ।

बहरहाल, महात्मा गांधी की अहिंसा यूरोपीय आधुनिकता के विकल्प के रूप में सामने आई थी, इसीलिए इस आधुनिकता से उत्पीड़ित जनों एवं राष्ट्रों में इसके प्रति स्वाभाविक आकर्षण पैदा हुआ, और कइयों के लिए प्रेरणास्रोत भी बना । **यूरोपीय आधुनिकता आधुनिक होने की एकमात्र कसौटी नहीं रह गई । आप**

यूरोपीय आधुनिकता का परित्याग कर भी आधुनिक हो सकते हैं और आधुनिक होने के अपने नये अर्थ गढ़ सकते हैं ।

****

भारत की वैचारिक परम्परा में जहां हम दूसरी दृष्टि की प्रभावकारी उपस्थिति देखते हैं, वहीं सामाजिक नियमन से सम्बन्धित भारत के **स्मृति साहित्य** में **पहली दृष्टि** की प्रधानता मिलती है । यथार्थ जगत में इन दो दृष्टियों के बीच निपट विभाजक रेखाएँ खींचना मुश्किल है – स्मृतियों में भी दूसरी दृष्टि से संबंधित विचार मिलते हैं, वहीं दार्शनिक परम्परा में भी पहली दृष्टि का प्रभाव जगह-जगह परिलक्षित होता है । यहां हम मुख्यतः दो धाराओं की चर्चा कर रहे हैं ।

पहली दृष्टि की चरम अभिव्यक्ति हम जातीय सोपान पर आधारित भारत की सामाजिक संरचना में देख सकते हैं – द्विज और शूद्र, स्पृश्य और अस्पृश्य के बीच जन्मजात विभाजन की उत्पीड़क सामाजिक व्यवस्था जिसमें जन्म से निर्धारित जातीय अस्मिता अन्य सारी अस्मिताओं का दमन कर देती है । कुछ जातियों को वर्चस्व का सारा सुख और अन्य को वंचना का सारा दुःख प्रदान करती है ।

जातीय सोपान पर आधारित भारतीय समाज पर ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन का स्वभावतः एक जैसा प्रभाव नहीं पड़ना था । फलतः इस शासन के प्रति भारत के विभिन्न समुदायों और जातियों का रुख़ भी एक जैसा नहीं होना था । औपनिवेशिक शासन के किसी एक पाठ की जगह अनेक पाठ होना कतई स्वाभाविक था । वैसे, अंग्रेज भारत में सामाजिक सुधार के लिए नहीं आये थे, लेकिन उनका संबंध एक भिन्न उत्पादन प्रणाली से था और उनके देश में नई-नई सामाजिक तथा राजनीतिक संस्थाएँ आकार ग्रहण कर रही थीं । कृषि युग के विगत साम्राज्यों से व्यापारिक, औद्योगिक तथा वित्तीय पूंजी के औपनिवेशिक हित भिन्न थे । और उनकी शासन प्रणाली भी ।

अंग्रेजी शिक्षा, सरकारी नौकरी, और बाद में (मनोनयन अथवा निर्वाचन के जरिये) राजनीतिक प्रतिनिधित्व दलित-उत्पीड़ित तथा पिछड़े समुदायों को भारतीय समाज की जातीय जकड़बन्दी से, बन्द तथा बहिष्कृत दुनिया से मुक्त करने में उपयोगी साबित हुआ था । भारतीय समाज की पुनर्रचना के प्रयासों में यूरोपीय आधुनिकता उनके लिए त्याज्य नहीं, बल्कि सहायक उपकरण हो सकता था (और हुआ भी) । पहली दृष्टि पर आधारित भारतीय स्मृति परम्परा की काट पहली दृष्टि पर ही आधारित यूरोपीय आधुनिकता से की जा सकती थी ।

समाज की पुनर्रचना के प्रयासों ने दलित-उत्पीड़ित-पिछड़े समुदायों की विशाल आबादी की रचनात्मक ऊर्जा को उन्मुक्त कर स्वतंत्रता आन्दोलन को भी मजबूती प्रदान की । तथापि, इस ऊर्जा का सामाजिक पुनर्रचना में कारगर उपयोग स्वतंत्रता के बाद भी जारी रहना था । स्वतंत्रता आन्दोलन और सामाजिक पुनर्रचना के प्रयासों के बीच सतह पर दिखनेवाली टकराहटों के बावजूद दोनों धाराएँ एक दूसरे की पूरक थीं और भारतीय समाज की अग्रगति के लिए अपरिहार्य भी ।

बहरहाल, सामाजिक पुनर्रचना के प्रयासों में यूरोपीय आधुनिकता का सीमित उपयोग तो किया जा सकता था, लेकिन वह इस पुनर्रचना का आधार नहीं हो सकती थी । **भारतीय समाज में द्विचर विभाजनों के आधार पर किसी समस्या का समाधान नामुमकिन है ।** स्वतंत्रता आन्दोलन के दौरान ही भारतीय समाज की पुनर्रचना के प्रतीक-पुरुष बन गये **डॉ बाबासाहब अम्बेडकर** अपने विचारों, अपनी कार्यशैली और वेशभूषा में (महात्मा गांधी से उलट) यूरोपीय आधुनिकता के प्रतिनिधि-पुरुष दिखते थे और दलितों के अधिकारों के लिए संघर्ष करने के क्रम में उन्होंने इस आधुनिकता का इस्तेमाल भी किया । मुख्यतः स्मृतियों की परम्परा के खिलाफ उनकी लड़ाई एक समावेशी भारतीय संविधान के निर्माण के साथ, जिसमें यूरोपीय आधुनिकता के कई उपयोगी तत्वों को भी शामिल कर लिया गया था और जिसकी रचना में स्वतंत्र भारत के पहले विधि मंत्री तथा संविधान प्रारूप

समिति के अध्यक्ष के रूप में उन्होंने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई थी, बहुत हद तक एक मुकाम हासिल कर चुकी थी ।

बहरहाल, भारतीय समाज की पुनर्रचना के आधार के रूप में उन्हें भी यह यूरोपीय आधुनिकता अपर्याप्त लगी । अन्ततः उन्होंने बुद्ध-धर्म के साथ अपना वैचारिक नाता जोड़ा (पश्चिमी विचारकों की शब्दावली में उन्होंने जुडियो-क्रिश्चियन पंथ की जगह एक इंडिक पंथ का वरण किया) । यह बुद्ध का पुनराविष्कार था और उन्हें नया अर्थ देना था । इस तरह उन्होंने दलितों को फ्रेंच एनलाइटेनमेंट से नहीं, बल्कि यूरोपीय ज्ञानोदय के करीब दो हजार वर्ष पूर्व के भारतीय एनलाइटेण्ड (बुद्ध) से जोड़ दिया । बुद्ध का दर्शन द्विचर विभाजनों पर आधारित दर्शन नहीं है । (बाबासाहब भारतीय और पश्चिमी विचार परम्परा के गहन अध्येता थे और उन्होंने यह निर्णय काफी मनन-चिन्तन के बाद लिया था । प्रसंगवश, वैदिक और बौद्ध विचारकों के बीच विवादों, और कुछेक हिन्दू तथा बौद्ध राजाओं के बीच विभिन्न समयों में हुए कुछेक युद्धों के बावजूद भारतीय समाज में इन दोनों धाराओं का समन्वय घटित हुआ । गुप्त साम्राज्य के पतन और उत्तर भारत में पालों के प्रभुत्व के बीच के करीब पांच सौ वर्षों के दौरान जमीनी स्तर पर इस समन्वय में तांत्रिक सम्प्रदायों ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई थी । दूसरे दलित नेता अपना वैचारिक सम्बन्ध विभिन्न संतों-सूफियों-फकीरों के सम्प्रदायों से जोड़ते थे ।)

इस तरह, यूरोपीय आधुनिकता का उपयोग करने के बावजूद उन्होंने वैचारिक तौर पर उस आधुनिकता का परित्याग कर दिया । प्रकटतः एक दूसरे के उलट दिखने के बावजूद सारतः महात्मा और बाबासाहब अन्ततः एक ही जगह खड़े थे ।

राष्ट्र-जनता

जैसा कि हम पहले देख चुके हैं प्रत्येक राजनीतिक विचारधारा की भांति राष्ट्रवादी विचारधारा भी अपनी एक अमूर्त **राष्ट्र-जनता** की रचना करती है । राष्ट्रवादी आन्दोलन के दौरान इस अमूर्त राष्ट्र-जनता को मूर्त राष्ट्र-जनता में तब्दील कर दिया जाता है । राष्ट्रवादी आन्दोलन का मूल लक्ष्य हासिल हो जाने के बाद इस मूर्त राष्ट्र-जनता को पुनः अमूर्त राष्ट्र-जनता में परिणत कर दिया जाता है ।

इसके अलावा, हर राजनीतिक विचारधारा अपनी यथार्थ मांगों को अमूर्त सपनों की पैकेजिंग के साथ प्रस्तुत करता है । यथार्थ प्रायः सपनों के साथ ही अवतरित होता है । यथार्थ मांगों की पूर्ति को बाद और कुछेक सपनों के साकार होने के साथ पैकेजिंग के रूप में आये अमूर्त सपनों को भी त्याग दिया जाता है । वैसे ही जैसे किसी माल की प्राप्ति के बाद आप पैकेजिंग की सामग्री कूड़ेदान में डाल देते हैं ।

समस्या तब पैदा होती है जब राजनीतिक रूप से सक्रिय मूर्त जनता का एक हिस्सा अमूर्त की दुनिया में वापस जाने से इन्कार कर देता है (जैसा कि कुछ पौराणिक कथाओं में, उलट रूप में, वर्णित किया गया है – स्वप्न में भ्रमण को निकली आत्मा वापस शरीर में जाना भूल जाती है अथवा वापस जाने से इन्कार कर देती है) । स्थिति तब और भी जटिल हो जाती है जब यथार्थ मांगों की पूर्ति के बाद मूर्त विचारधारा-जनता न सिर्फ अमूर्त की दुनिया में वापस लौटने से इन्कार कर देती है, बल्कि वह यथार्थ मांगों के साथ आये अमूर्त सपनों में भी सचमुच यकीन करने लगती है । मूर्त विचारधारा-जनता का अमूर्त सपनों के साथ यह मेल अनेक समय में बड़ी ही विकट समस्या पैदा कर देता है । आज भारत समेत पूरी दुनिया में विचारधारा की बुलन्द इमारतों के भग्नावशेषों के रूप में अमूर्त सपनों से चिपके मूर्त विचारधारा-जनता के छिटपुट निराशावादी समूह बिखरे पड़े हैं – अपनी विचारधारा से कभी जुड़े नेताओं को कोसते, सिर धुनते और अपने सपनों के टूटने का रोना रोते । कुछ मामलों में ऐसे समूहों का अन्त आतंकी गिरोहों, अपराध और नशीले पदार्थों की दुनिया में भी होता है । समाज रुका नहीं रहता । कुछ यथार्थ मांगों और कुछेक सपनों की पूर्ति के साथ ही समाज में नई मांगें पैदा हो जाती हैं और उनके साथ नये सपने भी । सवाल नई मांगों और नये सपनों के साथ आगे बढ़ जाने का है, न कि पुरानी मांगों और पुराने सपनों से चिपके रहने का ।

स्वतंत्रता आन्दोलन के दौरान जब मुस्लिम अभिजातों के एक हिस्से ने स्वातंत्र्योत्तर हिन्दू-बहुल भारत में रहने से इन्कार करते हुए एक पृथक राज्य की मांग की, तो उन्हें अपनी यह मांग 'समुदाय के स्वाभाविक आधुनिक रूप राष्ट्र' की मांग के रूप में रखनी पड़ी। ब्रिटिश तथा यूरोपीय शासक यही शब्दावली समझते थे और 'राष्ट्र के आत्म-निर्णय के अधिकार' के अन्तर्गत उनकी मांग पर विचार कर सकते थे। इसीलिए कहा गया कि भारतीय मुसलमान एक पृथक राष्ट्र है, उनकी समान भाषा है, और उनका समान मनोवैज्ञानिक गठन है। इस आधार पर एक पृथक राष्ट्र-राज्य उनका हक बनता है। यूरोपीय आधुनिकता और राष्ट्रवादी शब्दावली में प्रस्तुत इस मांग ने तब इस बौद्धिकता से प्रेरित बौद्धिक हल्कों को बचाव की मुद्रा में खड़ा कर दिया था। आधुनिकता में रचे-बसे **मुहम्मद अली जिन्ना** इस धारा के स्वभावतः प्रतीक-पुरुष बन गये और पाकिस्तानी संविधान सभा में दिया गया उनका 'सेक्यूलर राज्य' सम्बन्धी वक्तव्य इस पूरी आधुनिकता-प्रेरित प्रक्रिया का स्वाभाविक हिस्सा था। यह आधुनिकता-आधारित धारा खुद मुसलमानों में तब अच्छा-खासा प्रभाव रखनेवाली उस धारा के विरुद्ध थी जिसका प्रतिनिधित्व **मौलाना अबुल कलाम आजाद** और **मौलाना हुसैन अहमद मदनी** करते थे तथा जो जिन्ना के द्विराष्ट्रवादी सिद्धान्त के विरोधी थे।

इस मांग की प्राप्ति की दिशा में एक अमूर्त मुस्लिम राष्ट्र-जनता की रचना की गई, जिसे समय-समय पर मूर्त राष्ट्र-जनता का रूप दिया गया। (बताने की जरूरत नहीं कि यह प्रक्रिया कितनी रक्तपातपूर्ण रही।) साथ ही इस यथार्थ मांग को आकर्षक अमूर्त सपनों (एक आदर्श मुस्लिम समाज के निर्माण के सपनों) की पैकेजिंग के साथ बाजार में उतारा गया। यथार्थ मांग की प्राप्ति के बाद अमूर्त सपनों की पैकिंग सामग्री ठिकाने लगा दी गई।

बहरहाल, इस मामले में भी अमूर्त की दुनिया में वापस लौटने से इन्कार करनेवाली मूर्त राष्ट्र-जनता और अमूर्त सपनों के मेल ने पाकिस्तान के लिए समय-समय पर विकट स्थिति पैदा की। कुछ चिर लंबित समस्याओं से जुड़कर तथा जन्म से ही आंग्ल-अमेरिकी और फिर अमेरिकी प्रभुत्ववाद के संरक्षण तथा हस्तक्षेपों की वजह से इसने आज विस्फोटक रूप धारण कर लिया है। पाकिस्तान का आज का संकट आधुनिकता-प्रेरित पाकिस्तानी राष्ट्र-राज्य के गठन के अन्दरूनी द्वंद्वों का ही प्रकटीकरण है।

हिन्दुत्व की विचारधारा भी उसी यूरोपीय आधुनिकता से प्रेरित यूरोपीय राष्ट्रवाद की ही एक उग्र शाखा (नाजीवाद) का (विचार, कार्यशैली तथा वेशभूषा में) अनुकरण थी। 'स्वदेशी' के तमाम दावों के बावजूद यह नितान्त 'विदेशी' विचारधारा थी जिसका लक्ष्य 'जुडियो-क्रिश्चियन पंथों' के अनुरूप हिन्दू धर्म का पुनर्गठन करना, 'हिन्दू जाति' का सैन्यीकरण करना और उसका एक राष्ट्र-राज्य गठन करना था। हिन्दुओं की सारी विशिष्टताएँ (उनकी विविधता, उनके बीच प्रचलित अनेक पंथ-सम्प्रदाय, उनके बीच किसी संगठित चर्च तथा आधिकारिक प्रवक्ता का अभाव, आदि) उन्हें उनकी कमजोरी लगते थे और वे हिन्दुओं के लिए भी 'एक चर्च, एक पोप, एक रोम' की रचना करना चाहते थे। जो अपरिभाषेय था, उसे वे अपनी परिभाषा से मंडित करना चाहते थे। जो भारत के अस्तित्व की शर्त था, उसे वे विघटन का कारण मानते थे। वे भारत की समावेशी वैचारिक परम्परा के बजाए उसकी समय-सापेक्ष स्मृति परम्परा के प्रतिगामी पक्षों से खुद को अधिक निकट पाते थे। उदार होने के तमाम दावों के बावजूद उनके कुछ नेताओं द्वारा समय-समय पर हिटलर और गोडसे की प्रशंसा कोई विच्युति नहीं, उनके मूल वैचारिक स्रोतों का ही प्रकटीकरण है। **हिन्दुत्व भारतीयता का निषेध है।** पश्चिमी आधुनिकता-प्रेरित प्रतिद्वंद्वी विचारधाराएँ नहीं, बल्कि गांधी ही उनकी राह की सबसे बड़ी रुकावट थे।

हिन्दुत्व की विचारधारा ने भी एक अमूर्त हिन्दू-जनता की रचना की और समय-समय पर मूर्त हिन्दू जनता का रूप देने की कोशिश की। यह प्रयास भी काफी रक्तरंजित रहा और भयानक दंगों का सबब बना। उन्होंने जबरन समूची हिन्दू जनता का प्रवक्ता बनने की कोशिश की और हिन्दुओं के पूरे स्पेस पर अपना एकाधिकार जताना चाहा। बहरहाल, उन्हें इसमें अपेक्षित सफलता नहीं मिली और वे लम्बे समय तक हाशिये पर ही रहे।

अमूर्त हिन्दू जनता को मूर्त रूप देने में उन्हें सबसे बड़ी कामयाबी रामजन्मभूमि आन्दोलन के दौरान मिली । लेकिन यह कामयाबी भी अपर्याप्त थी और उसका भी एक बड़ा कारण उनकी प्रतिद्वंद्वी राजनीतिक शक्तियों की कमजोरी और गलतियाँ थीं ।

इसलिए हिन्दुत्व के नेता ने जब जिन्ना की कब्र पर उनके द्वारा एक 'सेक्यूलर' राष्ट्र की रचना के लिए उनकी तारीफ की, तो इसमें उनकी 'ईर्ष्या' भी छिपी थी – खुद वही मुकाम न पाने का दर्द भी था । साथ ही यह दोनों धाराओं के वैचारिक साम्य की स्वीकारोक्ति भी थी ।

हिन्दुत्व की वैचारिक धारा की उपस्थिति ने एक ओर मुस्लिम लीग के पृथक पाकिस्तान की मांग को बल प्रदान किया, और दूसरी ओर, संभवतः बाबासाहब द्वारा बौद्ध धर्म ग्रहण करने की प्रक्रिया को भी गति प्रदान की होगी । नागपुर इस हिन्दुत्व का मुख्यालय था और महाराष्ट्र उसकी मुख्य कर्मभूमि । 1950 ई. में मुम्बई में हिन्दू कोड बिल के पक्ष में बाबासाहब के नेतृत्व में चले जन आन्दोलन का (जिसमें बड़ी संख्या में महिलाओं ने शिरकत की थी) राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ ने उग्र विरोध किया था । आरम्भ में हिन्दी-भाषी क्षेत्रों में भी आर एस एस ने नागपुर से ही संगठक भेजे थे । नागपुर में ही बाबासाहब ने समारोहपूर्वक अपने लाखों अनुयायियों के साथ बौद्ध धर्म की दीक्षा ली थी । जिन प्रदेशों में हिन्दुत्व की विचारधारा और उससे जुड़े संगठनों का प्रभाव काफी सीमित था, वहां बाबासाहब के प्रति पर्याप्त सम्मान के बावजूद धर्मांतरण की घटनाएँ भी न के बराबर हुईं ।

महात्मा और बाबासाहब दोनों हिन्दुत्व के विचारकों के निशाने पर रहे । इसे आप यूरोपीय आधुनिकता के भारतीयता पर प्रहार के रूप में देख सकते हैं । इस आधुनिकता ने बाह्य और अन्दरूनी तौर पर भारत को विभाजित करने का ही काम किया है ।

हिन्दी समुदाय

इतिहास में बोलियाँ और भाषाएँ दो स्वरूपों में सामने आती हैं । एक, **जनों के अन्दरूनी** संवाद के माध्यम के रूप में और दूसरा, **जनों के बीच** संवाद के माध्यम के रूप में । एक, **जनों की अपनी-अपनी बोलियों अथवा भाषाओं** के रूप में, दूसरा **जनों के बीच सम्पर्क बोली अथवा भाषा** के रूप में ।

प्राचीन काल से ही, जीविकोपार्जन के लिहाज से समृद्ध भौगोलिक क्षेत्रों में धीरे-धीरे अनेक जन आकर बसने लगते थे । इन जनों के बीच स्वभावतः विभिन्न स्तरों पर संबंध भी विकसित होते । इन जनों की अपनी-अपनी बोलियाँ (अथवा भाषाएँ) तो होती ही थीं, तथापि एक बड़े भौगोलिक क्षेत्र में अनेक जनों के साथ-साथ रहने और उनके बीच अनेक स्तर पर विकसित संबंधों के कारण एक **सम्पर्क** बोली (अथवा भाषा) का भी विकास होता ।

इन सम्पर्क बोलियों-भाषाओं के विकास का कोई एक नियम नहीं है । कभी किसी प्रभावशाली जन की बोली और भाषा ही यह भूमिका निभाने लगती । किसी-किसी अन्य मामले में इन बोलियों-भाषाओं के मेल से कालक्रम में एक नई बोली अथवा भाषा सम्पर्क बोली अथवा भाषा के रूप में विकसित होती । प्राचीन समाज में इस तरह की बोलियों/भाषाओं का विकास शताब्दियों में घटित होता ।

आज से करीब दस हजार से आठ हजार साल पहले, लगभग दो हजार वर्षों तक, वर्तमान सहारा रेगिस्तान के दक्षिणी क्षेत्र में (जो अटलांटिक महासागर से नील नदी तक फैला था) पुरातत्वविद् **डॉ जे इ जी सटन** के अनुसार, एक समृद्ध **जल-पाषाण संस्कृति** (अक्वालिथिक कल्चर) फलती-फूलती रही थी । इस क्षेत्र में तब कई बड़ी-बड़ी नदियां थीं, ताल थे और दलदली जमीन थी । जलस्रोतों से समृद्ध इस क्षेत्र में विकसित संस्कृति ने तब आस-पास के जनों को भी आकर्षित करना शुरू किया । जाहिर है, इन जनों के बीच अवश्य कोई संम्पर्क बोली/भाषा विकसित हुई होगी । वर्तमान समय में इन क्षेत्रों तथा आस-पड़ोस के देशों की भाषाओं की गहन छानबीन के बाद भाषाविद् **जे एच ग्रीनबर्ग** ने जो निष्कर्ष निकाले ('लेंग्वेजेज ऑफ अफ्रीका', 1963), उस

आधार पर सटन उन जनों की बोली को **नाइलो-सहारन** वृहत् भाषा परिवार से जोड़ते हैं । ग्रीनबर्ग वर्तमान में उस वृहत् भाषा परिवार का संबंध **चारी-नाइल** भाषा परिवार से बताते हैं । पूर्वी सूडानी, मध्य सूडानी और कुछ अन्य लघु भाषाएँ इस चारी-नाइल भाषा परिवार की ही शाखाएँ हैं । करीब दो हजार वर्षों तक फलने-फूलने के बाद यह संस्कृति जल-स्रोतों के छीजने अथवा सूखने के कारण बिखर गई और संभवतः (एशिया की ओर) उत्तर-पूर्वी क्षेत्रों की नव-पाषाणकालीन (नियोलिथिक) संस्कृतियों से जा मिली । (जे इ जी सटन, 'दि अफ्रीकन अक्वालिथिक'; 'एंटीक्विटी', मार्च, 1977.)

मध्यकाल में, **दांते** की 'डिवाइन कॉमेडी' और 'इन्फर्नो' के कारण **फ्लोरेंटाइन** बोली को असाधारण सांस्कृतिक प्रतिष्ठा हासिल थी (फ्लोरेंस नवजागरण का केन्द्र भी था) । इसी फ्लोरेंटाइन बोली से इतालवी भाषा का विकास हुआ । तथापि, इटली के राजनीतिक एकीकरण के समय (1861 ई.) में मात्र ढ़ाई फीसदी आबादी ही इतालवी भाषी थी ।

अमेरिका के उपनिवेशीकरण के क्रम में यूरोप के कई देशों के लोग वहां जाकर बसे । उनकी भाषाएँ भिन्न-भिन्न थीं । लेकिन एंग्लो-सैक्सनों के वर्चस्व के कारण **अमेरिकन इंगलिश** संयुक्त राज्य अमेरिका की भाषा बनी ।

इन सम्पर्क बोलियों/भाषाओं के विघटन की भी कोई एक प्रक्रिया नहीं रही है । इतिहास में इन बोलियों/भाषाओं के विघटन के उदाहरण मिलते हैं, उनका यहां संक्षिप्त रूप से जिक्र किया जा सकता है । जिन कारणों से विभिन्न जन एक भौगोलिक क्षेत्र में जमा होने लगते थे, उन्हीं कारणों की अनुपस्थिति (खासकर, जलवायु परिवर्तन, अथवा संबंधित भौगोलिक क्षेत्र में शताब्दियों के उपयोग के बाद जीविकोपार्जन के स्रोतों के क्षरण, आदि) के फलस्वरूप जनों का दूसरे-दूसरे क्षेत्रों में स्थानान्तरण भी घटित होता था । ऐसी स्थिति में संबंधित जनों के बीच प्रचलित हो चुकी सम्पर्क बोली अथवा भाषा विभिन्न क्षेत्रों/प्रदेशों की क्षेत्रीय/प्रादेशिक बोलियों अथवा भाषाओं का (अपनी-अपनी क्षेत्रीय विशिष्टताओं के साथ) रूप ले लेती ।

कुछ सम्पर्क भाषाएँ मानकीकरण के क्रम में क्रमशः परिशुद्ध होते हुए मानक भाषा का रूप ले लेतीं हैं । जनपदीय/प्रादेशिक भाषाओं की तुलना में सम्पर्क भाषाएँ स्वभाव से ही अधिक नमनीय होती हैं – उच्चारण तथा व्याकरण में नमनीयता के साथ-साथ उनमें नये-नये शब्दों को ग्रहण करने की क्षमता तुलनात्मक रूप से अधिक होती है । जिन जनपदीय/प्रादेशिक भाषाओं के बीच वे सम्पर्क भाषा की भूमिका निभातीं, उन भाषाओं का अपेक्षाकृत विस्तृत क्षेत्र उनका 'कैचमेण्ट एरिया' (शब्द-ग्रहण क्षेत्र) होता । **एक सीमा तक 'भ्रष्ट' होने की अन्तर्निहित क्षमता हर सम्पर्क भाषा की विशिष्ट लाक्षणिकता रही है ।** शुद्धिकरण तथा मानकीकरण के क्रम में उनकी यह क्षमता निरन्तर संकुचित होती जाती है और इस प्रक्रिया में उनका जन से सम्पर्क भी क्षीण होता जाता है – वह विशिष्ट 'जनों' की विशिष्ट भाषा बन कर रह जाती है । सबसे शुद्ध और मानक भाषा अन्ततः एक मृत भाषा बनकर रह जाती है । तथापि इन मृत भाषाओं का भी इतिहास में अपना महत्वपूर्ण स्थान है । वह विभिन्न बोलियों और भाषाओं की पृष्ठभूमि तथा परिप्रेक्ष्य, और उनके बीच फर्क को रेखांकित करने की समझ हासिल करने में अनिवार्य संदर्भ का काम करती है । यथार्थ में इन शुद्ध और मानक भाषाओं का उद्भव जनबोलियों तथा भाषाओं से ही होता है, लेकिन हमारी चेतना में प्रायः यह उलट रूप में ('मिरर इमेज' के रूप में) अभिव्यक्त होता है । हमें लगता है कि बोलियों और भाषाओं का विकास इन्हीं (प्लेटो के 'आइडियल्स' की श्रेणी की भांति) शुद्ध मानक भाषाओं से हुआ है – जनों की बोलियाँ और भाषाएँ इन शुद्ध मानक भाषाओं का स्खलन लगती हैं ।

सम्पर्क भाषाओं की एक और परिणति राजभाषाओं के रूप में देखी जा सकती हैं । इतिहास में राजकाज में अमूमन आमजन से दूरी बनाकर रखी जाती है – राजसत्ता जनता से ऊपर की एक सत्ता के रूप में उपस्थित होती है, जन सम्पर्कों से उसकी कथित निष्पक्षता और शासन के लिए 'जरूरी भयोत्पादक रुतबा तथा दबदबा' खंडित होता है । अपारदर्शिता, गोपनीयता और रहस्यमयता राजकर्म की विशेषताएँ रही हैं । राजभाषा बनने के

बाद सम्पर्क भाषा की भी जनता से दूरी बढ़ती जाती है, शासन-कार्य के अनुरूप उसका भी मानकीकरण होने लगता है और वह नौकरशाही की भाषा के रूप में एक रहस्यमय दुरूहता का वरण करने लगती है । अपनी भाषा होते हुए भी आम जन राजभाषा को एक अबूझ, परायी, रहस्यमय कूट भाषा के रूप में देखने लगते हैं, जिसपर उनके रोजमर्रे के जीवन का कितना-कुछ निर्भर करता है । राज का रहस्य एक रहस्यमय भाषा में अपनी अभिव्यक्ति पाता है और यह भाषा शासन के लिए जरूरी 'भयोत्पादक रुतबे तथा दबदबे' का माध्यम बन जाती है । जनतांत्रिक शासन के दौर में भी राजभाषा की दुरूह पारिभाषिक-तकनीकी शब्दावली का कारण राजकाज की उसी परम्परा में निहित है ।

कुछ सम्पर्क भाषाएँ आबादी के स्थानान्तरण की स्थिति में स्वतः खत्म हो जाती हैं । लुप्त हो जाने के बावजूद विभिन्न भाषाओं में उनके अवशेषों से हम उस सम्पर्क भाषा की कुछ रूपरेखा का पता लगा सकते हैं ।

कुल मिलाकर, सम्पर्क भाषाओं की कमोबेश यही चार परिणतियाँ इतिहास में देखने को मिलती हैं । अनेक सम्पर्क भाषाएँ इन सारी प्रक्रियाओं से गुजरी हैं ।

आदि संस्कृत, आदि द्रविड़, पालि, प्राकृत, अपभ्रंश, उर्दू (खासकर पश्चिमोत्तर भारत में), और हिन्दी – ये सब सम्पर्क भाषाएँ ही रही हैं । एक सम्पर्क भाषा के रूप में पूर्वी और उत्तर भारत के विशाल भूभाग की अनेक जनपदीय भाषाओं तथा बोलियों के साथ हिन्दी का कोई विरोध नहीं है । वह (हिन्दी) तो अपने अस्तित्व के लिए इन्हीं पर निर्भर है । जनपदीय भाषाएँ और बोलियाँ हैं, तब ही तो उनके बीच सम्पर्क भाषा के रूप में हिन्दी है । हिन्दी का यह सम्पर्क भाषा वाला स्वरूप उसे भारत की अन्य प्रादेशिक भाषाओं से पृथक करता है । सवाल यह बिल्कुल नहीं है कि हिन्दी श्रेष्ठ है और अन्य प्रादिशिक भाषाएँ निम्न । सारी प्रादेशिक भाषाएँ काफी समृद्ध हैं । सवाल भाषा के दो भिन्न स्वरूप का है । इसीलिए प्रादेशिक भाषाओं से निर्मित प्रादेशिक अस्मिताओं की तुलना हिन्दी के साथ नहीं की जा सकती । एक सम्पर्क भाषा के रूप में हिन्दी अनेक जनपदीय अस्मिताओं (मैथिली, मगही, भोजपुरी, अवधी, बुंदेली, ब्रज, मालवाई, छत्तीसगढ़ी, आदि) की वाहक भाषा है । हाल के दशकों में अन्तर-क्षेत्रीय संबंधों के प्रसार के कारण महानगरों तथा शहरों के कुछ घरों में हिन्दी जरूर बोली जाने लगी है, लेकिन तब भी हिन्दी क्षेत्र के लगभग शत-प्रतिशत घरों में लोग अपनी-अपनी जनपदीय भाषाओं और बोलियों में ही बातचीत करते हैं । **यह कहीं नहीं और हर कहीं बोली जाती है ।** यह बात अन्य प्रादेशिक भाषाओं पर लागू नहीं होती । कारण हिन्दी का सम्पर्क भाषावाला स्वरूप है ।

इन जनपदों का इतिहास हिन्दी की तुलना में काफी पुराना है और यह इन जनपदीय लोगों की स्मृति में अब भी सुरक्षित है । इन जनपदों की अपनी समृद्ध सांस्कृतिक विरासत रही है । हिन्दी से जुड़ी इन जनपदीय भाषाओं का संबंध भी किसी एक भाषा-परिवार से नहीं, बल्कि अलग-अलग भाषा-परिवारों से रहा है । राजस्थानी, ब्रजभाषा, खड़ी बोली का संबंध शौरसेनी अपभ्रंश और शौरसेनी प्राकृत से रहा है, तो अवधी, बघेली, छत्तीसगढ़ी, आदि का अर्ध-मागधी अपभ्रंश और अर्ध-मागधी प्राकृत से । बिहार की जनपदीय भाषाओं (मैथिली, मगही, भोजपुरी, अंगिका, वज्जिका) का नाता मागधी अपभ्रंश तथा मागधी प्राकृत से जुड़ता है । झारखंड में बोली जानेवाली खोरठा, नागपुरिया, पंचपरगनिया के साथ भी यही बात है । एक-एक जनपद की आबादी यूरोप के अधिकांश देशों से प्रायः ज्यादा ही है और कहीं-कहीं बराबर । हिन्दी को उनकी जनपदीय अस्मिता का सम्मान करना चाहिए और उनकी वाजिब मांगों का (मसलन, प्राथमिक शिक्षा जनपदीय भाषाओं में देने की मांग का) समर्थन करना चाहिए । जनपदीय अस्मिताएँ कहीं-कहीं प्रादेशिक पुनर्गठन की मांगों में भी प्रकट हो सकती हैं । ऐसा होने पर भी यह हिन्दी के लिए कतई नुकसानदेह नहीं । यह सकारात्मक बात है कि संबंधित प्रदेशों की विधानसभाओं ने खुद अपने बंटवारे का प्रस्ताव पारित किया ।

हिन्दी के प्रसार में जैसे बॉलीवुड और मनोरंजन उद्योग की भूमिका की चर्चा होती है, वैसी चर्चा इस प्रसार में हिन्दी क्षेत्र के मेहनतकश वर्गों की भूमिका की नहीं होती । हिन्दी का विश्वव्यापी प्रसार अंग्रेजी की

तरह साम्राज्य की ताकत के कारण नहीं हुआ । सरकारी प्रयासों की भी इसमें कोई खास भूमिका नहीं रही । फिजी, मॉरिशस, कैरेबियाई द्वीप समूह में हिन्दी क्षेत्र के जो मजदूर-किसान गये, वे अपने साथ अपनी-अपनी जनपदीय भाषाएँ भी ले गये । भोजपुरी गई तो साथ-साथ हिन्दी भी गई । कोलकाता, पंजाब, दिल्ली, मुम्बई, और अब चेन्नई, बेंगलुरु, हैदराबाद, कोच्चि जानेवाले हिन्दी क्षेत्र के मजदूर और कारीगर अपने साथ ठेठ गंवई हिन्दी भी ले जाते हैं और साथ ही तमिल, तेलुगु, कन्नड़, मलयालम सीखकर लौटते हैं । मैथिली नेपाल की दूसरी भाषा है । मैथिली है तो साथ-साथ हिन्दी भी चलेगी ।

इन व्यापक जन संपर्कों के कारण हिन्दी पूरे देश में अनेक दिलचस्प रूपों में अवतरित हुई है – बॉलीवुड की फिल्मों और गानों में ये सारे रूप अभिव्यक्त हुए । बंगाली-हिन्दी, पंजाबी-हिन्दी, मुम्बइया-हिन्दी, मद्रासी-हिन्दी, गोवानीज-हिन्दी, टपोरी-हिन्दी । हिन्दी साहित्य में भी इन सारे रूपों का साक्षात् किया जा सकता है । इसी तरह जनपदीय हिन्दियों की भी बहुरंगी छटा है – भोजपुरी-हिन्दी, बुन्देली-हिन्दी, मैथिली-हिन्दी, अवधी-हिन्दी, आदि । यह विविधता हिन्दी को दिलचस्प और आकर्षक बनाती है । उसकी विविधता न सिर्फ उसकी अन्तर्निहित नमनीयता को प्रदर्शित करती है, बल्कि उसे निरन्तर समृद्ध भी करती है : हिन्दी समुदाय भारतीयता का ही एक लघु रूप कहा जा सकता है ।

भारत में विंध्य के उत्तर का विशाल भूभाग जिसमें करीब पैंतालीस करोड़ लोग बसते हैं, हिन्दी का गृह-क्षेत्र है । भारत के इतिहास में, उसकी सांस्कृतिक-भाषाई विरासत में इस क्षेत्र की क्या भूमिका रही है, उसकी एक अतिसंक्षिप्त चर्चा भी यहां मुमकिन नहीं । पाषाण काल से लेकर आज तक, हजारों वर्षों के **धारावाहिक** इतिहासवाले क्षेत्र दुनिया में विरले ही मिलते हैं । इस क्षेत्र की नवीनतम भाषा के रूप में आधुनिक हिन्दी गौरवान्वित है, लेकिन साथ ही, जन्म से ही उसके सामने इस क्षेत्र की समृद्ध सांस्कृतिक भाषाई परम्परा का वाहक बनने की गंभीर चुनौती भी है । इस क्षेत्र के इतिहास के पैमाने पर देखें तो हिन्दी का अभी-अभी जन्म ही हुआ है – इस क्षेत्र के अनेक प्रमुख शहर इससे उम्र में हजारों वर्ष बड़े हैं । हिन्दी समुदाय को तमाम अतिवादी थपेड़ों से इस शिशु की रक्षा करनी है । इस गृह क्षेत्र से परे भारत और विश्व के विभिन्न हिस्सों में बोलने-समझनेवालों की आबादी भी करीब उतनी ही आंकी जाती है, जितनी इसके गृह क्षेत्र की । हिन्दी को इस तथ्य के प्रति भी संवेदनशील रहना है ।

उपर्युक्त तथ्यों की रोशनी में, **एक मंद, दबी हुई हिन्दी अस्मिता भारतीयता के अस्तित्व की एक शर्त है । राष्ट्रीयता (बांग्ला में जाति) के यूरोपीय आधुनिकता पर आधारित सिद्धान्त के तहत एक हिन्दी जाति, एक हिन्दी प्रदेश और एक हिन्दी विधान सभा की बात तार्किक लग सकती है, लेकिन वह ठोस भारतीय संदर्भ में न सिर्फ अव्यावहारिक है, बल्कि नुकसानदेह भी । हिन्दी जातीय संहति का प्रयास हिन्दी समुदाय की अन्दरूनी जनपदीय विविधता और उसकी बाह्य बहुरंगी छटा को कमजोर करेगा, उसकी अन्तर्निहित नमनीयता को नुकसान पहुँचाएगा, और उसे एक प्रादेशिक भाषा के स्वरूप में ला खड़ा करेगा । मुखर और आक्रामक हिन्दी जातीयता खुद हिन्दी समुदाय और भारत के अन्दर सांघातिक तनावों को जन्म देगा और अन्ततः खुद हिन्दी और हिन्दी समुदाय को अपने जीवनदायिनी तत्वों से वंचित कर देगा । हिन्दी प्रदेशों में यदि हिन्दी राष्ट्रीयता को लेकर कोई राजनीतिक आन्दोलन नहीं चला, कहीं थोड़ी-बहुत कोशिश होने पर भी उसे जन समर्थन नहीं मिला और उल्टे, हिन्दी प्रदेशों ने ही खुद अपने बंटवारे का फैसला किया, तो इसके पीछे कोई गूढ़ हिन्दी-विरोधी राजनीतिक षडयंत्र नहीं है ।** कागज पर बिल्कुल तर्कसंगत और उन्नत सिद्धान्तों को भी समय-समय पर जमीनी हकीकत की कसौटी पर परखते रहना जरूरी होता है ।

नवजागरण

जिस तरह समुदाय के रूप में कल्पना का **एकमात्र** जरिया बन गया 'राष्ट्र', **उसी तरह आधुनिक यूरोप का ऐतिहासिक घटना-क्रम इतिहास-लेखन का एकमात्र संदर्भ-बिन्दु बन गया ।** इस प्रकार, यूरोप के ठोस ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य से उसके घटना-क्रम को पृथक कर उसे एक अमूर्त, सार्विक संदर्भ का दर्जा प्रदान कर दिया गया । आधुनिक यूरोप का इतिहास **नवजागरण** से शुरू होता है, तो हमें भी अपना आधुनिक इतिहास 'नवजागरण' से शुरू करना होगा – बांग्ला नवजागरण, मराठी नवजागरण, हिन्दी नवजागरण, आदि । हर प्रदेश में 'नवजागरण' 'खोजा' जाने लगा । मेरी दृष्टि में इतिहास-लेखन का यह नजरिया ही गलत है । हमें इस मानसिक अनुकूलन (कंडीशनिंग) से बाहर निकलना जरूरी है । **भारत में कोई 'नवजागरण' नहीं हुआ ।** जो ऐतिहासिक घटनाएँ घटीं, उन्हें आप उसी नाम से पुकार सकते हैं अथवा अपना कोई नाम दे सकते हैं । जहां 'नवजागरण' नहीं होता, क्या वहां इतिहास आगे नहीं बढ़ता ? इतिहास लेखन के लिए 'नवजागरण' का प्रस्थान-बिन्दु होना जरूरी है क्या ? इसका आशय कथित 'नवजागरण' से जुड़े व्यक्तियों के महत्व को घटाना या बढ़ाना नहीं है, न ही 'नवजागरण' से संबंधित साहित्य को बिल्कुल अनुपयोगी करार देना है । दरअसल, 'नवजागरण' संबंधी शोधों से हिन्दी के इतिहास को लेकर कई नये तथ्यों का उद्घाटन हुआ है ।

इतिहास के प्रति इस भ्रामक नजरिये के कारण शोधार्थियों को भी अनेक गड़बड़झाले का सामना करना पड़ता है । किन्हीं को लगता है कि भारत में 'असली नवजागरण' उन्नीसवीं सदी में नहीं, बल्कि भक्ति काल में ही हो गया ता । फिर भक्ति काल में ही क्यों रुका जाये ? वैदिक काल, ईसा पूर्व छठी शताब्दी का काल, मौर्य काल, गुप्त काल, संगम काल, विजयनगर साम्राज्य का काल, आदि की भी चर्चा चलेगी और भारत में नवजागरण भाग I, II, III, IV की बात होगी । **शेक्सपीयर** का खोज शेक्सपीयर से करीब हजार वर्ष पूर्व **कालिदास** तक जाएगी, **कोपरनिकस** की खोज **आर्यभट** तक, **हेगेल** की खोज **धर्मकीर्ति** तक, **कारडानो** की खोज **भास्कराचार्य** तक, उपन्यास विधा की खोज '**दशकुमारचरित**' तथा **दंडी** तक जाएगी । यूरोपीय नवजागरण के सांचे में भारतीय इतिहास को ढ़ालने का प्रयास न मालूम हमें कहां-कहां भटकाएगा, फिर भी क्या हासिल होगा ?

हां, एक भिन्न अर्थ में हम 'नवजागरण' शब्द का इस्तेमाल कर सकते हैं । जैसे किसी इलाके में निस्वार्थ भाव से सामाजिक-राजनीतिक कार्य में लगे व्यक्ति को लोग वहां के 'गांधी' कहने लगते हैं (मसलन, पीरो के गांधी राम इकबाल), उसी तरह किसी क्षेत्र में कुछ नये, अच्छे काम को आप उस क्षेत्र में 'नवजागरण' की संज्ञा दे सकते हैं । मामला अगर ऐसा हो, तब बात और है । 'पटना के एल्विस प्रेस्ले' की तर्ज पर हम मझौलिया के माइकलएंजेलो, लखनऊ के लियोनार्डो दा विंची और बरेली के बेकन की खोज कर सकते हैं ।

जब भारत में नवजागरण ही नहीं हुआ तो नवजागरण के प्रतीक-पुरुषों अथवा अग्रदूतों की बात ही नहीं उठती ।

आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास

आधुनिक हिन्दी साहित्य के आरम्भ काल में साहित्य का रसास्वादन करनेवाला पाठक वर्ग मुख्यतः 'उच्च' जाति अभिजातों के कुछ समूहों तक ही सीमित था । दलित वर्ग पूरी तरह निरक्षर था । यही स्थिति कमोबेश महिलाओं की थी । 'पिछड़ी' जातियों में भी साक्षरता नाम मात्र ही थी । यहां तक कि 'उच्च' जातियों के गरीब तथा निम्नमध्यवर्गीय तबकों का भी यही हाल था । (प्रसंगवश, यहां निरक्षरता का मतलब यही लेना चाहिए कि वे साहित्यिक कृतियों के पाठक नहीं हो सकते थे । इसका मतलब यह कतई नहीं कि इन तबकों की कोई सांस्कृतिक-साहित्यिक अभिरुचि नहीं थी । उनकी अपनी मौखिक परम्परा थी और उनके बीच अपनी गायन तथा नृत्य-नाट्य मंडलियां थीं । निरक्षर लोग भी अद्भुत गीत रचने में सक्षम थे, उनमें काफी प्रभावशाली कथावाचक और कलाकार थे ।)

जाहिर है, इस पृष्ठभूमि में तत्कालीन साहित्य की अपनी सीमाएँ थीं, उन दिनों के लेखकों तथा पाठकों के अपने पूर्वाग्रह थे, अपनी रुचियाँ थीं, और रसास्वादन के अपने मानदंड थे । यह सही है कि कई लेखक इन सीमाओं

तथा पूर्वाग्रहों का अतिक्रमण करने में भी समर्थ हुए – खासकर, स्वतंत्रता आन्दोलन की पृष्ठभूमि में यह 'अतिक्रमण' अधिक मुखर होकर सामने आया ।

आज स्थिति, अगर काफी संतोषजनक नहीं, तब भी उन दिनों की तुलना में काफी भिन्न है । महिलाओं, दलितों तथा अन्य पिछड़े वर्गों के बीच साक्षरता काफी बढ़ी है, करोड़ों की संख्या में स्नातक हैं और इन समदायों के बीच से एक मुखर बौद्धिक वर्ग उभर आया है । हिन्दी अखबार करोड़ों में तथा पत्रिकाएँ लाखों में बिक रही हैं । कस्बों-शहरों से अनेक लघु पत्रिकाओं का प्रकाशन हो रहा है, हिन्दी समीक्षकों के रेडार से बाहर सैकड़ों नये लेखक, पत्रकार, अनुवादक, पटकथा-लेखक, कलाकार, विज्ञापनकर्मी, रेडियो तथा विडियो जॉकीज, आदि सामने आ रहे हैं । इस उभार में, जाहिर है, दलित, नारी तथा पिछड़े वर्गों के सामाजिक-राजनीतिक आन्दोलनों का भी खास योगदान रहा है । हिन्दी तथा हिन्दी साहित्य के लिहाज से यह अत्यन्त सकारात्मक विकास है । इस नये बौद्धिक समुदाय की हिन्दी और हिन्दी साहित्य पर दावेदारी हिन्दी को नया, अभूतपूर्व विस्तार देती है । इंटरनेट पर भी अब अच्छी-खासी संख्या में हिन्दी की नई पीढ़ी सक्रिय है, और इसमें हिन्दी सॉफ्टवेयर निर्माताओं की भी उल्लेखनीय भूमिका रही है ।

समाज में नये वर्गों, समुदायों अथवा समूहों के उत्थान के साथ हमेशा नया इतिहास भी उपस्थित होता है । इतिहास के एक या दो 'आधिकारिक' पाठों का स्थान अब अनेक पाठ ले लेते हैं और पुराने विमर्शों का स्थान नये विमर्श । इस प्रक्रिया में स्वभावतः अनेक पुरानी मूर्तियाँ टूटती हैं और नई बनती हैं । जिस हिन्दी को हिन्दी ही नहीं माना गया, जिस हिन्दी को सुनने से इन्कार कर दिया गया, वह हिन्दी जब रंगमंच पर एक सशक्त किरदार के रूप में अवतरित होगी तो टकराव होंगे, ज्यादतियाँ भी होंगी और कुछ निर्दोष मूर्तियाँ भी टूटेंगी । इतिहास के रंगमंच पर खेले गये नाटक के पहले अंक में प्रायः ऐसा ही होता है, लेकिन इस रंगमंच पर कभी एकांकी नहीं खेली जाती । हमेशा और अंकों का आना बाकी होता है । अगर किसी किरदार के साथ अन्याय हुआ है, किसी की भूमिका को गलत तरीके से छोटा कर दिया गया है, तो उसके परिमार्जन की संभावना खत्म नहीं होती । हिन्दी अगर आज विभिन्न समुदायों के बीच 'रणक्षेत्र' बन गई है तो इससे हिन्दी के कुछ किरदार लहूलुहान हो सकते हैं, पर आखिरकार यह हिन्दी की जीत ही है । इससे हिन्दी को रचनात्मक ऊर्जा मिलती है ।

इस नई स्थिति में यदि विश्वविद्यालयों के हिन्दी विभाग हिन्दी इतिहास के एक या दो पाठों और पुराने विमर्शों से ही चिपके रहते हैं, तो यह उनकी अप्रासंगिकता का ही परिचायक है – विमर्शों को नई ऊंचाइयों तक ले जाने में उनकी अक्षमता का ही प्रदर्शन है । वैसे, शैक्षणिक विभाग अपने स्वभाव से ही कुछ हद तक रूढ़िवादी होते हैं – हिन्दी समाज का बौद्धिक नेतृत्व करने की उनसे उम्मीद भी नहीं की जाती । **हिन्दी समाज के अमूमन सारे प्रमुख विमर्श इन विभागों में भी बाहर से ही आये ।** ऐसे विभागों में चले विमर्शों के बारे में हिन्दी प्राध्यापकों के जो भी भ्रम हों, उनमें आम हिन्दी पाठकों की अधिक दिलचस्पी नहीं होती । वे प्रायः हर खेमे को पढ़ते हैं और अपने उपयोग की सार्थक चीजें हर कहीं से निकाल लेते हैं ।

कुल मिलाकर, **एक या दो आधिकारिक पाठों का जमाना बीत चुका है, इसीलिए मठों का भी । हिन्दी साहित्य का कोई आधिकारिक इतिहास नहीं, कोई आधिकारिक प्रवक्ता नहीं और कोई आधिकारिक मठ नहीं ।** बहरहाल, हिन्दी समाज के लिए यह शुभ स्थिति विश्वविद्यालयों के हिन्दी विभागों के लिए मुश्किल स्थिति पैदा कर देती है – वह कौन-सा इतिहास पढ़ायें ? बेहतर तो यही है कि कुछेक प्रचलित पाठों के साथ-साथ हर प्राध्यापक 'अपना इतिहास' पढ़ायें (हिन्दी इतिहास के कुछेक पाठ इसी तरह सामने आये प्राध्यापकों के अपने नोट्स ही हैं) और छात्रों को भी 'अपना इतिहास' लिखने तथा अपने नायक गढ़ने की स्वतंत्रता दें । पाठ्यक्रमों में भी हिन्दी इतिहास के विभिन्न पाठों को यथोचित स्थान दिया जाए और किसी भी एक पाठ के **एकमात्र** पाठ होने के दावे को खारिज कर दिया जाए । कुछेक विषयों की पाठ्यपुस्तकों में इस तरह के परिवर्तन शुरू भी हो चुके हैं, तथापि शैक्षणिक-नौकरशाही और रूढ़िवादी प्राध्यापकों के लिए यह जरूर मुश्किल है ।

इतिहास में नई सामाजिक शक्तियों की दावेदारी के साथ इतिहास के पुनर्लेखन का कार्य कोई नई बात नहीं है । यह हमेशा से होता आया है । अमेरिका में एंग्लो-सैक्सनों की जगह जैसे-जैसे अफ्रीकी-अमेरिकनों, हिस्पैनिक समुदायों, एशियन-अमेरिकनों, अमेरिकन-इंडियनों और महिलाओं की दावेदारी बढ़ेगी, अमेरिका का इतिहास वही नहीं होगा, जो आज पढ़ाया जाता है । यह प्रक्रिया शुरू भी हो चुकी है । दस-पन्द्रह साल बाद पढ़ाये जानेवाले इतिहास में अमेरिका के कई चरित-नायक – **जेफरसन** और **अब्राहम लिंकन** भी पुनर्मूल्यांकन की जद में आ चुके होंगे । उसी तरह विश्व में जैसे-जैसे चीन, भारत (और ऐसे ही अन्य देशों) की आर्थिक-राजनीतिक शक्ति बढ़ेगी, विश्व-इतिहास की पाठ्य-पुस्तकें भी बदलेंगी । चीनी इतिहास से संबंधित पृष्ठों का बढ़ना तो लगभग शुरू ही हो चुका है ।

हिन्दी आज

हिन्दी पहले से ही, सीमित अर्थों में ही सही, एक विश्व-भाषा रही है । वैश्वीकरण के दौर में इसके समक्ष नई संभावनाएँ और नई चुनौतियाँ उपस्थित हुई हैं । अब यह हिन्दी समुदाय पर निर्भर है कि वह इन संभावनाओं तथा चुनौतियों का क्या करती है ।

आज के वैश्वीकरण के दौर में इतनी बड़ी हिन्दी आबादी की उपेक्षा कौन करेगा ? इसीलिए हिन्दी समुदाय की ओर से बिना किसी अपेक्षित प्रयास के ही अंग्रेजी और अन्य विदेशी भाषाओं की विभिन्न कृतियां हिन्दी में अनूदित होकर आने लगी हैं – बेस्ट सेलर किताबें, हॉलीवुड की फिल्में, विदेशी सोप ओपेरा, एनीमेशन फिल्में, कार्टून, समाचार चैनल्स, नेशनल ज्योग्रफिक, डिस्कवरी, हिस्ट्री जैसे चैनल्स, विज्ञापन, आदि । इन सबके कारण, हिन्दी अनुवादकों, पटकथा-लेखकों और इन सबसे जुड़े रचनाकारों-कलाकारों की एक नई पीढ़ी सामने आई है । हिन्दी पाठकों, श्रोताओं तथा दर्शकों के सामने भी एक नई दुनिया उद्घाटित हुई है । इतने बड़े हिन्दी बाजार के प्रति विदेशों में भी उत्सुकता बढ़ी है । कार्टूनों, फिल्मों, विज्ञान-आधारित कार्यक्रमों, विज्ञापनों, बिलबोर्डों को गौर से देखिए तो बाजार में हिन्दी का नया निखरता चेहरा आसानी से पहचाना जा सकता है । अपने स्वरूप में ही संपर्क भाषा होने तथा उसके गुणों से लैस होने के कारण, आरंभ से ही अपने विविध, मिश्रित आधार के कारण **हिन्दी आज** अंग्रेजी के समानान्तर विश्व की संपर्क भाषा होने की भरपूर संभावना रखती है । विश्व की दूसरी सबसे तेजी से विकसित हो रही भारतीय अर्थव्यवस्था इस संभावना को बल प्रदान करती है । लेकिन हिन्दी समुदाय के पास हिन्दी क्षेत्रों के राजनीतिज्ञों, राजनयिकों, नौकरशाहों, मीडिया-मालिकों, उद्योगपतियों-व्यवसायियों की मिली-जुली मजबूत लॉबी का नितान्त अभाव है । फलस्वरूप, संयुक्त राष्ट्र संघ की मान्यताप्राप्त भाषा होने का अपना वाजिब हक भी वह अब तक प्राप्त नहीं कर सकी है । (वैसे, अपने इस वाजिब हक की प्राप्ति के लिए उसे कभी भी दूसरी भाषाओं से उलझना नहीं चाहिए ।)

बहरहाल, हिन्दी समुदाय के समक्ष एक बड़ी चुनौती तो इस क्षेत्र की अर्थव्यवस्था है जिसकी विकास दर संतोषजनक नहीं कही जा सकती । यहां हम उन आर्थिक सुधारों की चर्चा में नहीं जा सकते जिसके जरिये इस क्षेत्र को नई आर्थिक गतिविधियों का सक्रिय क्षेत्र बनाया जा सकता है । ऐसे कुछ प्रयास आरंभ भी हुए हैं । कहने की जरूरत नहीं कि गरीबी की रेखा से नीचे गुजर-बसर करनेवाली सबसे बड़ी आबादी इसी क्षेत्र में बसती है और कोई भी आर्थिक सुधार इस समस्या से नजरें चुराकर न तो सफल हो सकता है और न ही समावेशी आर्थिक सुधार की संज्ञा पा सकता है । हिन्दी के हितों को गति प्रदान करने का प्रश्न भी बहुत हद तक इस समस्या से जुड़ा है ।

हिन्दी समुदाय आज बाहर से जितनी चीजें ले रहा है, उस तुलना में उसके पास देने के लिए (अपनी श्रमशक्ति के अलावा) कुछ खास नहीं है । यह स्थिति भी बहुत हद तक पहली समस्या से ही जुड़ी है । यह क्षेत्र विज्ञान तथा तकनीक के अनुसंधान और विकास का क्रियास्थल नहीं बन पाया है । ज्ञान युग में मोबाइल, कम्प्यूटर, आदि दैनिक उपयोग के उपकरण बन गये हैं । इनसे संबंधित सारी शब्दावली पर अंग्रेजी का एकक्षत्र प्रभुत्व है । (जैसे

किसानों और कारीगरों के दैनिक उपयोग के पुराने उपकरणों के विविध गंवई नाम आपको विभिन्न क्षेत्रों में मिल जाएंगे ।) मौलिक शोध-ग्रंथ हिन्दी में न के बराबर हैं । शोध से जुड़े हिन्दीभाषी शोधार्थी भी अपनी रचनाएँ अंग्रेजी में ही लिखते हैं । हिन्दी के पास स्तरीय बाल-साहित्य, किशोर-साहित्य, विज्ञान-साहित्य का घोर अभाव है, और अंग्रेजी तथा अन्य विदेशी भाषाओं में अनूदित हिन्दी की 'बेस्ट सेलर' क्या, ठीक-ठाक व्यवसाय करनेवाली किताबें नहीं के बराबर हैं । ले-देकर मध्य एशिया और अफ्रीका के बाजार में, और कुछ हद तक ब्रिटेन में, बॉलीवुड की कुछ फिल्मों और कुछेक धारावाहिकों ने अपनी थोड़ी-बहुत जगह बनाई है । हिन्दी के लिए 'जय हो' की स्थिति अभी कोसों दूर है ।

चुनौती खुद हिन्दी पर उत्पन्न खतरों से निपटने की भी है । एक संपर्क भाषा के रूप में अन्तर्निहित नमनीयता क्या हिन्दी को ही इतना बदल डालेगी कि उसकी पहचान ही मिट जाए ? खासकर तब जब सामना अंग्रेजी से हो जिसके पीछे शताब्दियों तक एक साम्राज्य की ताकत थी और अब अमेरिका की । क्या अपनी नमनीयता पर पड़नेवाले दबावों से हिन्दी टूट जाएगी ? वैसे समृद्ध सांस्कृतिक-भाषाई विरासत, विशाल शब्द भंडार और विविधताभरा जनाधार हिन्दी को पर्याप्त मजबूती प्रदान करता है, तथापि हिन्दी क्षेत्र के ही कुछ हल्कों में तुरत-फुरत मुनाफा बटोरने की चाहत रखनेवाले भाषाई सटोरिये इसे तोड़ने का प्रयास भी कर रहे हैं । कुछेक हिंग्लिश शब्दों के प्रचलन से वैसे हिन्दी का कुछ नहीं बिगड़नेवाला, लेकिन हिन्दी मीडिया के कुछ प्रकाशन एक बनावटी हिंग्लिश के पैरोकार बनकर उभरे हैं ।

नेट पर हिन्दी की उपस्थिति धीरे-धीरे बढ़ रही है । यहां भी लक्ष्य नेट पर हिन्दी की उपस्थिति को (हिन्दी भाषियों की आबादी के अनुपात में कम-से-कम) आठ फीसदी तक पहुँचाना है । नेट के आरम्भ में अंग्रेजी की उपस्थिति पंचानबे फीसदी से भी अधिक थी, चीनी की नगण्य । अब चीनी की उपस्थिति पैंतीस फीसदी से भी ऊपर जा पहुँची है (विश्व आबादी में चीनी भाषी आबादी का अनुपात करीब बाइस फीसदी है) ।

एक बड़ा सवाल भाषाओं के विश्व-बाजार में हिन्दी को बेचने का है । हिन्दी समुदाय के पास हिन्दी के छवि-निर्माण, उसकी पैकेजिंग तथा उसकी बिक्री का कारोबार करनेवाले उद्यमियों का नितान्त अभाव है । वैसे यह भी हिन्दी समाज की पिछड़ी स्थिति की ही अभिव्यक्ति है । लेकिन इस पिछड़ेपन की दुहाई देकर इस कार्य से मुँह मोड़ने को भी उचित नहीं ठहराया जा सकता । घरेलू तौर पर भी हिन्दी के वर्तमान कारोबारी – और ऐसे कारोबारी कम नहीं हैं – सरकारी अथवा संस्थागत खरीद और सरकारी मदद से होनेवाले समारोहों, गोष्ठियों, जलसों, प्रकाशनों, आदि से ही संतुष्ट हैं । हिन्दी का एक **जन-बाजार** (मास मार्केट) बनाने के लिए जरूरी निवेश करने और जोखिम उठाने का उद्यमी भाव उनमें नदारद है । राजभाषा होने का यह एक नकारात्मक पक्ष है ।

हिन्दी के जन-बाजार के लिए स्थितियाँ कब से मौजूद हैं । यदि हिन्दी के प्रकाशक इस दिशा में आगे नहीं बढ़ते, तो इतना बड़ा बाजार कोई छोड़ नहीं देगा । दूसरे आयेंगे (आ चुके हैं तथा आ रहे हैं) और तब हिन्दी के परम्परागत प्रकाशक या तो बदलने को बाध्य होंगे, या बन्द हो जाएंगे, या फिर उन्हीं संस्थानों के कनीय भागीदार बनकर रह जाएंगे । हिन्दी प्रकाशकों की वेबसाइट्स भी अनाकर्षक तथा आवश्यक सूचनाओं से वंचित हैं ।

हिन्दी का जन-बाजार बनाने में एक बड़ी बाधा खुद हिन्दी बुद्धिजीवियों के एक प्रभावशाली हिस्से में बाजार के प्रति नकारात्मक दृष्टिकोण है । 'बाजार ही सारी समस्याओं का समाधान है' जैसे बाजारवादी-वर्चस्ववादी तर्क का विरोध करते-करते वे प्रायः बाजार का ही विरोध करने लगते हैं, फलतः बाजार में विश्वास के साथ उतरने से कतरा जाते हैं । 'बेचना' शब्द सुनते ही ऐसे लोग भड़क जाते हैं, मानो कोई पाप कर रहे हों । बाजार हजारों वर्ष पुरानी संस्था है और विनिमय के युग में हमारे सामाजिक जीवन का प्रमुख हिस्सा है । विनिमय ही आज हमारे जीविकोपार्जन का सर्वप्रमुख जरिया है । बाजार के विरोध के पीछे कभी-कभी कृषि-युगीन, कमोबेश स्वयंसंपूर्ण ग्रामीण अर्थव्यवस्था में व्यापारियों के प्रति मौजूद पूर्वाग्रह भी झलकता है । बहरहाल, बाजार-विरोध का व्यवसाय भी बाजार में ही फलता-फूलता है ।

हिन्दी के कारोबारियों के लिए अफ्रीका, मध्य एशिया, लातिनी अमेरिका, और सर्वोपरि, चीन के बाजार में अपार संभावनाएँ हैं जिन पर पर्याप्त ध्यान देने की जरूरत है ।

हिन्दी कारोबार के भौतिक-आर्थिक पक्ष के अलावा उसके साहित्यिक पक्ष की भी यहां थोड़ी चर्चा की जा सकती है । **विभिन्न जनपदीय समूहों के बीच संवाद के माध्यम के रूप में हिन्दी में प्रायः एक आभासीपन, एक शिष्टता और संवेदनशीलता आ जाती है ।** कालक्रम में इसने एक ग्रंथि का रूप ले लिया । यह ग्रंथि श्रेष्ठ साहित्य की रचना में रुकावटें खड़ी कर देती है । साहित्य में हम अपने उदात्त भावों से ही रू-ब-रू नहीं होते, बल्कि अपने उन्मत्त क्षणों का भी साक्षात् करते हैं, हम अपने प्रकट जीवन की ही कथा नहीं पढ़ते, अपने अंतरंग तथा गुप्त जीवन के रहस्योद्घाटन का भी आनंद उठाते हैं, अपने शिष्ट बर्ताव का ही पाठ नहीं पढ़ते, उस शिष्टाचार के पीछे छिपी अपनी गालियों पर भी मुग्ध होते हैं । एक शिष्ट, सतही तथा **अभिभावक** के भाव से गर्वित भाषा में यह सब अभिव्यक्त करना समस्या बन जाता है । ऐसे में हम या तो जनपदीय भाषाओं या बोलियों की शरण में चले जाते हैं या फिर अंग्रेजी की शरण में । साहित्य में यह समस्या पहले श्लील-अश्लील विवाद के रूप में उपस्थित होती है और फिर इस विवाद से परे जाकर परिपक्वता हासिल करती है । इस परिपक्वता के बिना किसी भी भाषा का साहित्य **सार्विक दिलचस्पी** पैदा नहीं कर पाता । प्रत्येक भाषा की परिपक्वता की निशानी उसमें कथित रूप से 'अश्लील' साहित्य की उपस्थिति है ।

साहित्य अगर समाज का दर्पण है तो इसका अर्थ हुआ कि (दर्पण के प्रतिबिम्ब की तरह) आप उसमें अपने उलट रूप में प्रतिबिम्बित होते हैं । वह सभ्यता को उसकी बर्बरता का और बर्बरता को सभ्यता का, समाज को उसकी असामाजिकता का और असामाजिकों को समाज का चेहरा दिखाता है । वह संतुलित को असंतुलित और असंतुलित को संतुलित करता है, बसे घरों को उजाड़ता है और उजड़े घरों को बसाता है । वह हर चरित्र को अपने उलट रूप से परिचित कराता है और इस तरह उसके पाखण्ड का अन्त कर उसे अपने अभिशप्त द्विविभाजित अस्तित्व से मुक्त कर देता है । यह मुक्ति ही साहित्य के सार्विक आकर्षण की कुंजी है । यही शास्त्रीय रचनाओं की कालजयिता का सबब है । हस्तिनापुर के व्यवस्थित राज्य में सारे आदर्श पात्र मौजूद थे – आदर्श पितामह, आदर्श राजा, आदर्श माताएँ, आदर्श राजकुमार, आदर्श गुरू, आदर्श मंत्री, आदि । एक-एक कर सारे पात्रों को, उनके उलट रूप का उद्घाटन करते हुए, कुरुक्षेत्र की रणभूमि में ला खड़ा कर दिया जाता है । और कुरुक्षेत्र में ? विरोधों के महासमर के बीच, आजकल की भाषा में, 'क्वांटम कोहेरेंस' का, कृष्ण के 'विश्वरूप' का दिग्दर्शन कराया जाता है । यही चीज आप विश्व की अनेक महागाथाओं में देख सकते हैं ।

सभ्यता तो अपने जन्म से ही पाखण्ड रचती है । सभ्यता के पेनोप्टिकोन (साभार **जेरेमी बेंथम** और **मिशेल फूको**) में हर नागरिक से यह अपेक्षा की जाती है कि वह इस पाखण्ड को अपना ले, सभ्यता के मानदण्डों के अनुकूल खुद को ढ़ाल ले । धीरे-धीरे लगता है कि हर नागरिक स्वेच्छा से सभ्य हो रहा है, उन्होंने सभ्यता का आभ्यन्तरीकरण कर लिया है । लेकिन पेनोप्टिकोन की प्रहरी-मीनारों के सजग प्रेक्षकों के लिए भी इन बन्दियों के अन्तरतम की निगहबानी नामुमकिन है । वे उन्हें शारीरिक रूप से अनुशासित कर सकते हैं, अपने सांस्कृतिक उपादानों से उनके मनोजगत का भी नियमन कर सकते हैं, तब भी उनके अन्तरतम का कोई कोना उनकी नजरों से ओझल ही रहता है ।

सभ्यता की सत्ता को लगता है कि सारे बन्दी उसके अनुरूप अनुकूलित हो चुके हैं । लेकिन तभी, सबसे अनुशासित-अनुकूलित उनका हमराही उनका हंता साबित होता है । अन्तरतम के उसी अनजान कोने में प्रतिसत्ता का भूमिगत संसार रचा जाता है । साहित्य सभ्यता की सत्ता के पेनोप्टिकोन में रचा गया प्रतिसत्ता का वही भूमिगत संसार है । **साहित्य सभ्यता का विलोम है ।**

सभ्यता हमेशा कुछ लक्ष्य, कुछ मंजिलें तय करती है और उन्हीं से अपनी सफलता के पैमाने निर्धारित करती है । साहित्य का कोई लक्ष्य नहीं होता, उसकी कोई मंजिल नहीं होती, और इसीलिए उसकी सफलता का कोई

पैमाना नहीं होता । वह तो हमें लक्ष्यहीन, मंजिलविहीन प्रवाह में छोड़ देता है – प्रवाह की पुनर्प्राप्ति में ही हमें मुक्ति का आनन्द मिलता है ।

हिन्दी साहित्य में ग्रंथि-मुक्ति एक परिघटना बनती दिख रही है । तथापि वह कुछ ज्यादा ही शिष्ट, सभ्य और लक्ष्योन्मुख रही है । फलतः उसके पास सार्विक सहानुभूतिवाली रचनाएँ कम ही हैं ।

टिप्पणियाँ

1. **313 ई.** में **मिलान की राजाज्ञा** (एडिक्ट ऑफ मिलान) के जरिये रोमन सम्राट **कान्स्टेंटाइन** ने राज्य पर पंथ के प्रभुत्व के युग का सूत्रपात किया और **पवित्र रोमन साम्राज्य** की नींव रखी थी ।

वेस्टफेलिया की सन्धि के काफी पहले **ऑग्सबर्ग की शान्ति (1555 ई.)** के अन्तर्गत 'प्रत्येक भूभाग के शासक द्वारा अपने भूभाग के पंथ का निर्णय करने' के उसूल को मान्यता दी जा चुकी थी । इस उसूल को **cujus region, ejus religio** के रूप में जाना जाता है । **1598 ई.** में, **नाण्टेस की राजाज्ञा** के जरिये पूर्व-प्रोटेस्टेंट **हेनरी चतुर्थ** ने **सहिष्णुता के सिद्धान्त** की पुष्टि की, फलतः क्रिश्चियन कैथोलिक प्रभुत्व का अन्त हुआ ।

वेस्टफेलिया की सन्धि ने सम्राट की शक्ति और भी क्षीण कर दी । हॉलैंड तथा स्विटजरलैंड द्वारा साम्राज्य से नाता तोड़ने और पूर्ण आजादी की घोषणा को इस सन्धि ने मंजूरी दे दी थी । फ्रांस ने अल्सेस का क्षेत्र हासिल कर अपनी सीमा का राइन तक विस्तार कर लिया था । एक जर्मन राजकुमार (बैंडनबर्ग के होहेनजोलर्न एलेक्टर) ने इतना भूभाग हासिल कर लिया था कि वह सम्राट के बाद सबसे बड़ी ताकत बन गया । 1701 ई. में यह भूभाग **प्रशिया का राजतंत्र** बन गया ।

कुल मिलाकर, इन सारी प्रक्रियाओं के फलस्वरूप, 313 ई. में कान्स्टेंटाइन ने जिस पवित्र रोमन साम्राज्य की नींव रखी थी, उसका पतन घटित हुआ । वैसे, **पवित्र रोमन साम्राज्य का औपचारिक विघटन 1806 ई. में संपन्न हुआ** ।

(कैटलिन, जॉर्ज ; 'ए हिस्ट्री ऑफ पोलिटिकल फिलॉसॉफर्स', लंदन, 1950)

2. **'ट्रू लेवलर्स'** या **'डिगर्स' :** सत्रहवीं सदी के मध्य में इंगलैंड की बुर्जुआ क्रान्ति के दौरान जनवादी गणतांत्रिक आन्दोलन लेवलर्स से अलग हुआ एक समूह (जो खुद को सच्चा लेवलर्स मानता था) । शहर और देहात के सामंती तथा पूंजीवादी शोषण के शिकार आबादी के सबसे गरीब तबकों का प्रतिनिधित्व करते थे ये डिगर्स । जहाँ लेवलर्स निजी सम्पत्ति के हिमायती थे, वहीं डिगर्स सामूहिक सम्पत्ति तथा समतामूलक कम्युनिज्म के उसूलों का प्रचार करते थे । उन्होंने सामुदायिक परती जमीन पर सामूहिक खेती के जरिये जमीन पर सामूहिक स्वामित्व स्थापित करने की भी कोशिश की ।

3. **थॉमस मुंजर (1498-1525) :** जर्मनी में **धर्म-सुधार आन्दोलन** तथा **किसान युद्ध (1525)** के दौरान गरीब किसानों और शहरी गरीबों के नेता । उन्होंने भी एक समतामूलक काल्पनिक कम्युनिज्म की हिमायत की थी ।

4. **एनाबैप्टिस्ट्स (या रीबैप्टिस्ट्स) :** धर्म-सुधार आन्दोलन (सोलहवीं सदी) के दौरान स्विट्जरलैंड, जर्मनी और नीदरलैंड्स (हॉलैंड) में सक्रिय एक रैडिकल, जनवादी धार्मिक-दार्शनिक सम्प्रदाय । इस सम्प्रदाय के सदस्यों ने शैशवावस्था में बपतिस्मे (नामकरण-संस्कार) का परित्याग कर दिया था और दूसरे, वयस्क अवस्था में बपतिस्मे की मांग की थी (इसलिए वे एनाबैप्टिस्ट कहलाते थे) । 'मैनोनाइट्स' के नाम से यह सम्प्रदाय ब्रिटेन में भी फला-फूला और वहीं से अमेरिका भी जा पहुँचा । रोड आइलैंड में उन्होंने एक उपनिवेश की भी स्थापना की और वे संयुक्त राज्य अमेरिका में एक शक्तिशाली प्रोटेस्टेंट सम्प्रदाय के रूप में उभरे ।

5. **फ्रेंक्का नोएल बेब्यूफ (1760-1797) :** फ्रांसीसी क्रान्तिकारी । समतामूलक काल्पनिक कम्युनिज्म के प्रवक्ता । 'समान जनों के षड्यंत्र' (जिसे 'बेब्यूफ षड्यंत्र' के नाम से भी जाना जाता है) के संगठनकर्ता । 1828 ई. में बेब्यूफ के एक साथी **फिलिप बुओनारोत्ती** ने अपनी पुस्तक 'हिस्ट्री ऑफ द कांसपिरेसी फॉर इक्वलिटी' ('समानता के लिए षड्यंत्र का इतिहास') में इसका वर्णन किया है कि किस प्रकार 'समान जनों' ने एक किस्म के जन-विद्रोह की योजना बनाई थी, और किस प्रकार

वे असफल हुए तथा उन्हें फांसी पर लटका दिया गया । बेब्यूफ ने 26 मार्च, 1797 को खंजर भोंक कर खुद ही अपनी जान ले ली ।

6. **क्वेकर ('सोसाइटी ऑफ फ्रेंड्स') :** सत्रहवीं सदी की क्रान्ति के दौरान इस पंथ की स्थापना भी इंगलैंड में हुई थी और बाद में संयुक्त राज्य अमेरिका में इसका पर्याप्त विस्तार हुआ । इन्होंने स्थापित चर्च और उसके कर्मकाण्डों को नकार कर शान्तिमूलक विचारों का प्रचार किया । 1681 ई. में क्वेकर **विलियम पेन** ने अमेरिका में पेनसिल्वानिया के उपनिवेश की स्थापना की थी । 1820 के दशक में 'ड्राइ' क्वेकर्स के विरुद्ध 'वेट' क्वेकर्स नामक सम्प्रदाय भी उभरा जो रूढ़िवादी 'ड्राइ' (शुष्क) क्वेकर्स का विरोध कर क्वेकर सिद्धान्तों के पुनर्नवीकरण की हिमायत करता था ।

अप्रैल-मई, 2009 ।